गोविन्द शास्त्री

मन्त्र विज्ञान

लेखक की अन्य प्रकाशित पुस्तकें

१. ज्योतिष रहस्य
२. यंत्र सिद्धि रहस्य
३. मंत्र सिद्धि रहस्य
४. मंत्र और ज्योतिष
५. भूत बाधा देह रक्षा
६. तंत्र सिद्धि रहस्य
७. शकुन और स्वप्न
८. तंत्र विज्ञान
९. यंत्र विज्ञान

मंत्र-विज्ञान

गोविन्द शास्त्री

साधना पॉकेट बुक्स

प्रकाशक :
साधना पॉकेट बुक्स,
३६ यू० ए० बंग्लो रोड, दिल्ली-११०००७
दूरभाष : 2914161-2516715

●

●

संस्करण : 1993

●

मूल्य 15.00 रुपये

दो शब्द

मंत्र इस युग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। जड़ सभ्यता को बढ़ावा देकर व्यक्ति ने अशान्ति मोल ले ली है और वह उसमें जकड़ गया है। इस विषमता में उलझा व्यक्ति यदि इस पुस्तक को पढ़ेगा तो उसे अपना पीड़ित चेहरा दिखाई देगा। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में वह दिशा ढूंढना चाहेगा, युग की कुण्ठा से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढना चाहेगा। प्रस्तुत पुस्तक में जिस तत्परता से इस सामयिक सन्ताप को अनुभव किया गया है, उसी ईमानदारी के साथ उसका समाधान भी दिया गया है। धैर्य से पढ़ते जाने पर और विश्वास से अपना लेने पर आगे के पृष्ठ सब कुछ स्वयं बतला जाएंगे।

पुस्तक का पहला खण्ड भौतिक-विज्ञान के पाठकों के लिए, दूसरा मंत्र-शास्त्र के ज्ञाता, साधारण और विज्ञ जनों के लिए तथा तीसरा सभी व्यक्तियों के लिए उपयोगी है।

यह विषय तकनीकी है, इसलिए सारी पुस्तक को पढ़ने से यह सुविधा रहेगी कि कोई सूचना किसी दूसरे प्रसंग में भी मिल सकती है, किसी विषय का अपवाद या व्याख्या अन्यत्र भी लिखी जा सकती है। इसके बावजूद भी यदि कोई बात अस्पष्ट रहे तो लेखक से पूछी जा सकती है।

मंत्र-विज्ञान का अध्ययन और उपासना हमारे लिए कल्याणकर रहे हैं, अतः वर्तमान पीढ़ी को और आने वाली पीढ़ी को भी इसके प्रति आस्थावान् बनाने का दायित्व हमें स्वीकार करना होगा।

चौमूं (जयपुर)
राजस्थान

—गोविन्द शास्त्री

आत्म निवेदन

पुस्तकाकार में 'मंत्र विज्ञान' मेरी पहली भेंट थी और यह मां के सारस्वत स्वरूप का ही चमत्कार कि जिन हाथों में गई उन्होंने आशीर्वाद दिया। यथार्थ में यह लेखन परमश्रद्धास्पद श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार को दिये गये वचन का पालन है और उनकी आकांक्षा ही इस विवेचन का प्रेरक-प्राण है।

इसे संशोधित परिवर्धित एवं परिमार्जित करना—एक सामयिक आवश्यकता अथ च पाठकों का आग्रह था और इसी कारण यह संयोग भी मिल गया। अच्छा साहित्य मंहगा होने के कारण अच्छा नहीं होता प्रत्युत उसकी दीर्घजीविता और सदाशयता ही उसके अच्छेपन के आधार बनते हैं इस दृष्टि से (मूल्य और विक्रय पाठक और प्रकाशक का विषय है) मेरा कर्तव्य था कि इसमें कुछ ऐसा और जोड़ दिया जाए जो इस युग की आवश्यकता है। मेरे जैसे अकिंचन के पास चमत्कार या गारंटी जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि इस युग में जीने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है—यह आप सभी जानते हैं, इसके बाद समय ही कहां बचता है? सच तो यह है कि चमत्कारी बनने के बाद संसार में रुचि ही नहीं रहती, लिखने जैसी प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है। इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि जीवन में चमत्कारों से भिन्न कुछ है भी नहीं और ऐसे चमत्कार आपके जीवन में भी प्रतिक्षण होते रहते हैं, यह दूसरी बात है कि आप उन्हें अनुभव नहीं कर पाते अथवा चमत्कार के रूप में स्वीकार नहीं करते।

साधना न विज्ञापन का विषय है, न गारंटी का, क्योंकि यह सूक्ष्म जगत् का भावना विज्ञान है और इसे केवल विश्वास व श्रद्धा के बल पर प्राप्त किया जा सकता है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारे परम पावन ऋषि अलीकवादी नहीं थे, केवल अनुमान को उन्होंने

प्रमाण नहीं माना इसलिए प्रयोग के रूप में जो कुछ उन्होंने बताया वह निर्भ्रान्त था। भ्रान्ति, सन्देह और विफलता हमारे युग की, पर्यावरण की, सामाजिक जीवन की विसंगति के कारण हैं। इन सबने हमारे मन और व्यवहार को इतना कलुषित कर दिया कि मंत्र के स्वरूपभूत देवता की दिव्यता हमारे लिए अलभ्य हो गई, परिणामतः हमारी पात्रता में निरन्तर ह्रास आता गया। सन्देह के कारण अविश्वास पनपता है और अविश्वास ही गारंटी चाहता है। सत्पात्र के लिए ये प्रयोग आज भी उतने ही प्रामाणिक हैं, आस्था के लिए देवता दूर कहां है ?

साधना का एक स्वतंत्र संसार है जब हम इसमें प्रवृत्त होते हैं तभी इसका ज्ञान होता है। आप किसी महानगर की सड़क पर चल रहे हैं, आपके लिए सड़क का बाह्य स्वरूप ही महत्वपूर्ण है क्योंकि वही आपको अपने गन्तव्य तक ले जाएगा किन्तु इस राजमार्ग के नीचे अनेकों मार्ग हैं—पानी की लाइन, बिजली की लाइन, टेलीफोन की लाइन, सीवर की लाइन जैसी अनेकों सड़कें या लाइनें इसी राजमार्ग के नीचे से जा रही हैं और इन सबका अपना संसार, स्वरूप, प्रभाव और लक्ष्य है, जो जिस विषय को जानना चाहता है वह उनके रहस्य और विस्तार को प्राप्त कर लेता है।

और कुछ हो या न हो, परांबा के चरणों की शरण लेने में एक लाभ अवश्य है कि व्यक्ति में अभिमान नहीं पनपता, वह अपने को आश्वस्त समझता रहता है और उस पराशक्ति के सम्पर्क से आनन्दित हुआ रहता है। नाम स्मरण से प्राप्त बल उसके साहस को क्षीण नहीं होने देता। हम किसी प्रयोजन से कोई साधना करते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं पर एकमात्र स्वार्थ साधन के लिए किसी भी देवता या मंत्र का अनुष्ठान उतना हितकर नहीं रहता। मेरा अपना विश्वास है कि जो लोग आस्था एवं श्रद्धा के साथ भगवान् का स्मरण करने का व्रत लिए होते हैं उनके लिए काम्य प्रयोग अधिक सार्थक रहते हैं।

उपासना यों तो आत्म साक्षात्कार का माध्यम है, हम अनन्त शक्ति का अपनी इच्छा के अनुसार रूप में आवाहन करते हैं--इसका सीधा-सा अर्थ यह होता है है कि हम अपने आपको उस परमशक्ति के अवतरण के

अनुरूप बनाते हैं और कालान्तर में हम स्वयं तद्रूप हो जाते हैं इस प्रकार, मंत्र हमारे में अन्तर्हित विराट् को प्रकट करने का माध्यम है। इस प्रक्रिया में किसी विधि विधान की या अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं है किन्तु यह पद्धति भक्तियोग बन जाती है और उपासना में भक्ति एक प्रेरक तत्त्व के रूप में ही कार्य करती है, इसलिए प्रयोग की पद्धति समझना और तदनुसार कार्य करना आवश्यक हो जाता है। यह कर्मकाण्ड चूंकि तकनीकी है इसलिए इसकी बारीकी को ज्ञाता व्यक्ति से समझ लेना चाहिए। न करना अच्छा पर गलत ढंग से करना बुरी बात है अनेकों गलतियां ऐसी होती हैं जिनसे हमारा किया हुआ निष्फल हो जाता है और अनेक गलतियां हमें दोषभाजन बनाती हैं इसलिए उपासना की पद्धति पूरी तरह समझ ली जानी चाहिए।

भारत शब्द का उपासक रहा है और शब्द साधक का यह मानना अविश्वास से परे है कि यह संसार में है, शब्द से है और कि 'उस' गुण, रूप और वाणी से अतीत तत्त्व का अवतार शब्द की भूमि पर ही हो सकता है। संसार के और तदाधारित व्यक्ति के रहस्य को समझने के लिए शब्द ही एकमेव माध्यम बनता है। हमारा परम सौभाग्य कि हम ब्रह्म के अवतार देश और ऋषियों की तपः स्थली भारत में जन्मे हैं। देवत्व और दिव्यत्व इस भूमि में प्रखर व स्पष्ट रूप से प्रकट हैं, आवश्यकता इस बात की है कि हम इस धरित्री के सहज गुण को प्रकट होने के लिए निर्मल अन्तःकरण और संवेदनशील बन सकें तभी यह ज्ञात हो सकेगा कि यह धरती माता कितने सात्विक ओजस् से पूर्ण है और हमारे देह में चेतना का संस्पर्श पाकर मुखर हो रही है।

शब्द का साक्षात्कार आत्म साक्षात्कार है और वह केवल व्याकरण से नहीं होता। व्याकरण शब्दों की व्युत्पत्ति, विस्तार और संगतरूप से परिचित कराता है, महामुनि यास्क भी शब्दों की निरुक्ति ही समझाते हैं, भर्तृहरि का वाक्यपदीय भी शब्दों और वाक्यों की सम्प्रेषणीयता पर विचार करता है ये सारे शास्त्र हमें शब्द के स्थूल स्वरूप का परिचय देते हैं जैसे पानी की द्रव, ठोस, वाष्प जैसी अवस्थाएं, पानी के दोष, पानी का उपयोग, पानी के विविध रूप अर्थात् जल तत्त्व से सम्बन्धित सारा

परिज्ञान देने वाले शास्त्र हैं। जल के मूल में अवस्थित तत् का ज्ञान हमें तंत्र शास्त्र देता है—शारदा तिलक, कामधेनु तंत्र, ज्ञान संकर्षिणी तंत्र जैसे ग्रन्थ हमें जल की अनन्तता अथवा तत् की ज्ञानातीत सत्ता से परिचित कराते हैं। परांबा की कृपा से और गुरु के आशीर्वचन से शब्द का पारमार्थिक रूप हम पर प्रकट होता है, यही दर्शन हमारे जीवन की चरम सार्थकता है।

तंत्र शास्त्र ने संसार की पंचीकरण पद्धति को समझकर उसे अधिक व्यापक और स्पष्ट रूप दिया है। इस पंचीकरण का ज्ञान व्याकरणकारों को भी था और व्याकरण का प्रत्याहार इसी तत्त्व विस्तार का सूत्र है जिस पर सारा व्याकरण चलता है। शब्द की मूल अवस्था नाद, बिन्दु और बीज में नाद शुद्ध अवस्था है। अक्षर पुरुष की स्वयंभू क्रिया नदन है और नाद में वह किसी प्राणी का स्पर्श पाये बिना स्वतन्त्र रूप से मुखर होता है। नाद के रूप में वह शिव स्वरूप सारे संसार में व्याप्त है क्योंकि हमारे कण्ठ में आकर व्यक्त होने वाला शब्द अपने प्रारंभिक स्तर पर नाद रूप में ही उद्भूत होता है।

प्रकृति ने संसार के अधिकांश प्राणियों को एक ही व्यंजन युक्त स्वर दिया है और यह कितनी कष्टकर स्थिति है कि वे जीव अपनी समग्र अनुभूति को केवल एक ही शब्द के माध्यम से अभिव्यक्ति देते हैं। होने को अनेक देह इस प्रकार के भी हैं जो निर्वाक् हैं, वाग्देवी उनमें तिरोहित अथवा मन्द अवस्था में है। शास्त्र यद्यपि इस विषय में कुछ कहते नहीं फिर भी इतना हो सकता है कि वनस्पति वर्ग अपनी अनुभूति को किसी अन्य रूप में व्यक्त करता हो अथवा एक कोशीय एवं कैंचुआ जैसे जीवों की भी कोई स्वतंत्र भाषा हो किन्तु उसका मनुष्य जैसे प्रबुद्ध जीव के लिए कोई अर्थ और महत्व नहीं है इसलिए शकुन शास्त्र में भी इनका कोई विवरण नहीं दिया गया। यह वर्ग हमारे यहां की ऋतु एवं भावी बाजार की स्थिति का सूचक होता है। इस तरह से यह वर्ग बुद्धि में अविकसित किन्तु प्रकृति अथवा गोचर से सीधा जुड़ा रहता है।

विश्व में जितने प्रकार के वाद्य हैं उनमें थाप, झंकार और फूंक के वाद्य सर्वाधिक स्पष्ट हैं। नटराज शिव के पास थाप का वाद्य डमरू

है, ब्रह्मा के पास (उसकी शक्ति रूपा सरस्वती के हाथ में) झंकार की वीणा है और विष्णु के पास फूंक का वाद्य शंख है जो उनके षोडश कलावतार में अधिक परिष्कृत एवं संवेदनशील होकर वंशी के रूप में एक आधारचिह्न की तरह जुड़ गया है। इन वाद्यों में चेतन-वादक व्यक्ति एक प्रेषक के रूप में काम करता है इसलिए ये सब वाद्य माधन ही बनते हैं तो भी इनमें से जो नाद उत्पन्न होता है वह शब्द की अविकृत अवस्था है और हमें सीधे प्रभावित करता है। नाद की इससे बड़ी प्रभुता क्या होगी कि वह बिना किसी शब्दावलि के केवल लय और आरोहावरोह से ही हमें आन्दोलित कर देता है।

मंत्र की साधना में हम शब्द के मूल स्वरूप बीज को आधार बनाते हैं और यह बीज शनैः-शनैः अपनी नादमयी अवस्था में प्रकट होने लगता है। कोई आश्चर्य नहीं शब्द की यह मूल प्रकृति हमारे स्थूल जगत् में विशिष्ट प्रकार के परिवर्तन कर दे। कारण यह है कि हमारे सुख-दुःख, हमारे वातावरण का उल्लास और विषाद, ह्रास और वृद्धि ये सब तत्त्वों के स्तर पर तो हैं किन्तु यह तात्त्विक स्तर गुणात्मक स्तर से शासित होता है इसलिए वनस्पतियों का अधिक फलना, गायों का अधिक दूध देना, वर्षा का होना अथवा दीपों का जल जाना गुणात्मक स्तर से होकर तत्त्व जगत् पर एक परिवर्तन का सूचक बन जाता है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर यदि हम यह अध्ययन करें कि प्रकृति ने किस पशु अथवा पक्षी को कौन-सा अक्षर दिया है और उस अक्षर के अनुसार उसमें किस तत्त्व की उल्वणता है तो हमारे सामने एक रहस्यमय संसार का द्वार खुल जाएगा क्योंकि किसी प्राणी विशेष को एक ही अक्षर का उच्चारण करने की क्षमता भी प्रकृति के सिद्धान्त की बात है।

प्रकृति की कार्यविधि समझने के लिए हमारे दृश्य जगत् में अथवा इतस्ततः जो कुछ है उसे ही आधार बनाया जाए। इसी अध्ययन से हम समझ पायेंगे कि किस प्राणी को प्रकृति ने कौन-सा अक्षर दिया है और उसके आहार-व्यवहार में, आकार-प्रकार में किस तत्त्व की प्रमुखता है? निश्चित है उसमें जिस तत्त्व की प्रखरता होगी वही स्वर उसको मिला होगा—यह तथ्य समझ में आने के बाद हम षट्कर्म के रहस्यों से भी

परिचित हो जायेंगे अर्थात् मारण-मोहन जैसे षट्कर्म भी आगे चलकर सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों में आश्रित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए सम्मोहन-आकर्षण रजो गुण की क्रिया हैं, मारण-स्तम्भन-उच्चाटन तमोगुण की और शान्ति-पुष्टि कर कर्म सत्त्वगुण की इसलिए इन कर्मों की सिद्धि के लिए हम जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं वह हमारे शरीरवर्ती षट्चक्रों में से उन चक्रों को अधिक क्रियाशील करते हैं जिनमें ये शब्द अवस्थित हैं और वे चक्र चूंकि मूल बिन्दु हैं इसलिए उनकी क्रियाशीलता से बाह्य प्रभावित होना है यद्यपि इन चक्रों की क्रिया स्वतन्त्र है, इनको किसी भी बाह्य प्रयत्न से प्रभावित नहीं किया जा सकता फिर भी हमारे बोलने पर ये स्पन्दित होते हैं और उन पर विद्युत्धारा का बार-बार आवेश करने से (इस क्रिया को हम जप कहते हैं जिसमें निर्धारित शब्दों की बार-बार आवृत्ति होती है) व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व में वह विशेषता प्रकट होने लगती है।

अस्तु ! वह व्यावहारिक शास्त्र है, गुरुगम्य भी इसलिए किसी विज्ञ का परामर्श व मार्गदर्शन प्राप्त करके प्रवृत्त हो जाना श्रेयस्कर है। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि इस क्षेत्र में वणिक् वृत्ति काम नहीं देगी, वानर बुद्धि भी इसमें सफलता नहीं देगी, स्थिर चित्त और अचल-निष्ठा से किया गया काम देर-आबेर फलता ही है जो लोग यह सोचते व हिसाब रखते हैं कि इतनी मात्रा में जप कर लिया, इतना पैसा और समय लगा दिया और सफलता नहीं मिली—उन लोगों से मेरा नम्रनिवेदन है कि वे इस विषय पर विचार भी न करें—इससे उनका समय, श्रम और धन का व्यय नहीं होगा और इस विद्या का सम्मान भी बना रहेगा।

पराम्बा आपको सफलता दे।

विषय प्रवेश

आस्था और विश्वास के बल पर ही मानव ने आज असीम अन्तरिक्ष को नाप लेने का साहस संजोया है। निरन्तर तपस्यारत आज का मानव प्रकृति पर विजय करने का निश्चय ले चुका लगता है। कालजयी बनकर वह जीवन के सत्य को उद्घाटित करना चाहता है, क्षीरसागर को मथ कर अमृत प्राप्त करना चाहता है। उसका यह प्रयाम मानव जाति के इतिहास में पहला है, कम-से-कम भारतीयों के लिए तो यह मानने की बात नहीं है। हां, इतना अवश्य है कि जिस तरीके से वह आगे बढ़ रहा है वह नया है। भारतीय वाङ्मय इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आज और आज की गति से चलने पर हजार सालों की उपलब्धि भी कोई प्रकल्पित नहीं होगी, क्योंकि व्यक्ति जितनी कल्पना कर सकता है उतना कुछ घटित हो चुका है, होगा और होता रहा है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के प्रकाश में इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि अणु से भी अधिक शक्ति वाले दूसरे स्रोतों का ज्ञान भारतवासियों को था, पर उनकी वैज्ञानिक सिद्धियों का मार्गदर्शन करने वाले 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' और 'सोऽहम् ब्रह्मास्मि' (अर्थात् यह सब जो कुछ दीखता है, अनुभव होता है, घटित होता है यह सब ब्रह्म है, सचेतन है, उस परम का अंश है और मैं भी वही ब्रह्म हूं जो इस चराचर में व्याप्त है) जैसे आर्ष वाक्य थे जिनसे वह पिण्ड में ब्रह्माण्ड का दर्शन करता था, विश्व में घट रहे को अपने में अनुभव करता था और सूक्ष्म से स्थूल को नियन्त्रित मानता था। प्राचीन ऋषियों के आश्रम अपने आप में प्रयोगशालाएं होते थे और ऋषि एक संस्था के स्वरूप होते थे। जिस समय वर्णाश्रम और जातियों का वर्गीकरण किया गया था, उस समय इस तपोनिष्ठ व्यक्ति को शर्म कहा गया था। शर्म का अर्थ होता है 'कल्याण'। यह बात आज अटपटी लग सकती

है कि समाज और राष्ट्र का कल्याण एक वर्ग विशेष के पास तक किस तरह सीमित एवं संरक्षित रह सकता था, किन्तु वास्तव में इसमें कोई विरोध अथवा असंगति नहीं है क्योंकि वह शर्म अथवा ब्राह्मण वर्ग जनपदों से दूर रहकर समाज की शान्ति और सुरक्षा के लिए कल्याणकारी मार्ग ढूंढता रहता था। प्राचीन काल के योग्यतम राजा और सम्राट् इन्हीं ब्राह्मणों अथवा शर्मिष्ठों की देन हैं। अस्तु ! यह संस्था जैसा ऋषि और प्रयोगशाला जैसे आश्रम श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर वैज्ञानिक आविष्कार करते रहते थे और उन्हें समाज के लिए सुलभ कराते रहते थे। इतना अवश्य था कि उस युग में केन्द्रीयकरण की परम्परा थी इसीलिए ये आविष्कार आधिकारिक व्यक्तियों को ही दिए जाते थे। दरअसल जाति अथवा वर्ण जैसी व्यवस्था इकाईयों में केन्द्रित करने की व्यवस्था थी और उससे समाज की उन्नति एवं सुरक्षा सुदृढ़ रूप से हो सकती थी। उन ऋषियों के आविष्कार आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी बहुत आगे के रहे थे इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उन आविष्कारों के अन्वेषण की पद्धति आज से भिन्न थी। ऋषि अहम् ब्रह्म में विश्वास करते थे इसलिए उनके शान्ति एवं विनाश के कार्य, शिव और संहार की योजनायें बाहर के साधनों पर आश्रित नहीं रहती थीं। वे जो भी कुछ चाहते, स्थूल को जिस किसी रूप में अनुशासित करना चाहते, उसे बिना किसी ताम-झाम के कर डालते थे। उनके आविष्कार और सिद्धियां ठीक वैसी ही होती थीं जैसी प्रकृति की। आटोमेशन (Automation) या स्वचालन उनका भी सूत्र था प्रकृति का भी है और आज के विज्ञान का प्रिय गन्तव्य भी है, पर वह स्वचालन किसी वृक्ष के जीवन जैसा था जो अपने अस्तित्व से मानव को सुख-सुविधा देता है, फल-वल्कल से जीवनदायी बनता है और निर्जीव होकर ईंधन या फर्नीचर के काम आता है तथा अन्त में उसी माता वसुन्धरा को समर्पित होकर किसी दूसरे रूप में ढल जाता है। यह तो हुई उस वृक्ष की साधारण बात। उनके जीवन की वास्तविक विशेषता यह है कि वायुमण्डल में सन्तुलन बनाए रखने के लिए प्रकृति ने मुस्कराते हुए सुकोमल पत्तों वाले, स्वादिष्ट फल देने वाले और मोहक गन्ध बिखेरने वाले पेड़-पौधे उत्पन्न किए हैं। दरअसल ये अपने आप में एक प्रकार

की फैक्टरियां हैं, जो गैस वितरण करती हैं, पूर्ण और निःशुल्क, बिना किसी प्रकार के शोर-गुल के और आत्मनिर्भर होकर। प्रकृति के हर कार्य में बड़ा रहस्य छिपा हुआ है और वह स्वचालित रूप से आज तक चलता आया है, आगे भी चलता रहेगा। भारतीय ऋषियों के आविष्कार भी प्रकृति की कार्यपद्धति के अनुसार ही हुए। सारे ब्रह्माण्ड का विनाश एक छोटे-से बाण से करना, भयंकर व्याधि का बिना चीर-फाड़ के इलाज कर देना, अरबों प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित लोकों का ज्ञान करना, ये सब आज के लिए अविश्वसनीय हैं, पर उस युग के लिए जीवनीय थे। उन ऋषियों के आविष्कार सर्वसुलभ नहीं थे, पर जो जनहित के लिए आवश्यक था उस पर अनावश्यक नियन्त्रण भी नहीं था। किसी भी बात को ऋषि के नाम पर प्रमाण मान लेने की बात आज भी भारतीय जीवन में है। तुलनात्मक दृष्टि से आज का आविष्कार मानव को सुखी एवं सुविधा सम्पन्न बनाने के लिए सार्वजनिक है, पर उस खरीदी सुविधा से आदमी प्रकृति से दूर चला जा रहा है, अकल्पित मशीनों के ढेर में बन्दी होता जा रहा है। आज का न्यूयार्कवासी अपने को जिन सुविधाओं से पूर्ण मानता है वास्तव में वे उसके और प्रकृति के बीच एक दीवार हैं, वह उन सुविधाओं से इस कदर घिर गया है कि केवल छटपटा ही सकता है, छूटकर भाग नहीं सकता। मानव के कल्याण के लिए बनाई गई फैक्टरियां आज वायु सन्दूषण का खतरा बन गई हैं, मोटर और विमानों के कर्कश शब्द से आदमी की आयु क्षीण होती जा रही है। वस्तुतः ऐसा इसलिए हुआ कि आज के विज्ञान ने बाहर की सुविधायें जुटाईं, भीतर का सुख देने की बात नहीं सोची। उसने 'विज्ञान और धर्म' के स्थान पर 'विज्ञान अथवा धर्म' का नारा दिया और अन्धा होकर आदमी उसे पाने के लिए बाहर भाग पड़ा जो उसे अपने भीतर ही मिल सकता था। भारत ने सुख के लिए धर्म और सुविधा के लिए प्रकृति की निकटता तथा रक्षा एवं सुरक्षा के लिए वैज्ञानिक सिद्धियां सुलभ कीं। यह सब उसे भीतर से मिला था और भीतर से ही इसका सम्बन्ध था, इसलिए उसने हर वस्तु को चेतन मानकर आविष्कार किए, प्राणवान समझकर पूजा और ब्रह्म का अंश जानकर प्रतिष्ठा दी। फलस्वरूप भारतीय विज्ञान की सिद्धियां आत्मनिष्ठ

एवं सूक्ष्मपरक थीं जबकि आज की वैज्ञानिक उपलब्धियां (मशीनें) बड़ी जटिल हैं और उनका उपयोग एवं रक्षण व्यक्ति के लिए एक खरीदी गई अशान्ति हो गया है।

आज भौतिक एवं रासायनिक अतएव जड़वादी विज्ञान की आशातीत सफलताओं के युग में, मंत्र की चर्चा करना 'आउट ऑफ फैशन' होगा, क्योंकि आदमी की आंख पर ऐसा चश्मा लग गया है जो केवल बाहर देख सकता है (यह सारा विज्ञान चूंकि जड़ विज्ञान है इसलिए बाहर से बाहर की ओर भाग रहा है, हमारे ज्ञान केन्द्रों किंवा इन्द्रियों के अनुभव से आगे की बात पर हम विश्वास ही करने को तैयार नहीं हैं इसलिए यह विज्ञान केवल चश्मे से दीखने वाले तथ्य पर विश्वास करता है और इस विश्वास को सिद्ध करने के लिए उसने कई तरह की सिद्धियां और मशीनें हमारे सामने प्रस्तुत की हैं।) फिर भी मंत्र एक सत्य है इस दृष्टि से इस पर विचार करना शायद आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता होगी अन्यथा यह सारा मार्ग, ये सारे आविष्कार, भविष्यकाल की मशीनें केवल राजपथ बन जाएंगे, मंजिल नहीं बन सकेंगे। मंजिल वही होगी जहां व्यक्ति इन सारे उपकरणों के अन्तर में छिपे किसी विराट् सत्य को पहचान लेगा। मन्त्र बता सकता है, व्यक्ति का विश्वास धूसरित हो सकता है किन्तु ज्ञान-विज्ञान मानव के साथ चलने वाली ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो आश्वत हैं, अतः सत्य हैं। उपलब्धियों के उपकरण, नाम एवं प्रकार बदल सकते हैं, पर उन स्वप्नों को लेने और साकार करने की इच्छा ज्ञान के सहारे ही आगे बढ़ती है, यह यात्रा आज तक चलती आई है, आगे भी चलती रहेगी। व्यक्ति मरकर जन्मता रहेगा, भयंकर विनाश उसके आविष्कारों को नष्ट करते जाएंगे, किन्तु वह चलता रहेगा और ज्ञान उसे प्रेरणा देता रहेगा। भले ही युग के अनुसार उसकी उपलब्धियां भिन्न प्रकार की रहें, उसके अनुसंधान के प्रकार बदल जायें।

यह एक सार्वकालिक मान्यता है कि तत्त्व—जिन्हें हम पंचतत्व कहते हैं—वे ही रहते हैं, उनका आकार-अनुपात बदलता रहता है, उनके स्वभाव और गुणों में कोई अन्तर नहीं आता। साहित्यकार की कल्पना पिछड़ सकती है, उसके वर्णन की शैली पुरानी पड़ सकती है, किन्तु उस

विषय का सत्य अथवा मूलभूत आधार झूठा नहीं हो सकता। जो विषय साहित्य और कल्पना से भिन्न हैं वे गणितीय सत्य की तरह ही शाश्वत और सदा तरोताजा रहते हैं, समय का प्रवाह अथवा व्यवहारहीनता उनको उपेक्षायोग्य कर सकते हैं, उन्हें पिछड़ा और मृत नहीं कर सकते। गणित का दो और दो चार का योगसिद्धान्त और उसका योगफल कालजयी सत्य है, न यह बूढ़ा होता है, न मरता है, भले ही जमाना इनका व्यवहार करना छोड़ दे। वास्तव में होता यह है कि कल्पना, जिसे हम कोई प्रामाणिक आधार देने को तैयार नहीं होते, एक ऐसी उत्सुक-इच्छा है जो समाज को, मानव को और विज्ञान को गति प्रदान करती है। यदि यह कल्पना न होती तो व्यक्ति की क्षमता निरर्थक सिद्ध होती। इस अप्रामाणिक मानी जाने वाली कल्पना के ही कारण सत्य को मार्ग मिलता है, विज्ञान को मूर्त आधार दिया जाता है। मंत्र एक गणितीय सत्य है, इसमें कल्पना को स्थान नहीं है, आज कोई मंत्र की पुस्तक पढ़े या उस पुस्तक में लिखे किसी प्रयोग को करके असफल हो जाए तो उस सम्पूर्ण विज्ञान को असत्य और निराधार कल्पना कहने में संकोच नहीं करेगा, जबकि उसका सत्य गणित जैसा ही निर्दोष है। आज का मानव जिस वैज्ञानिक आविष्कारों का दास हो गया है और जिस भौतिक प्रगति को देखकर आश्चर्यचकित हो रहा है उससे भिन्न प्रकार का है यह मंत्र-विज्ञान और इसकी सिद्धियां। यह कोई पैसे देकर खरीदने लायक वस्तु नहीं है, क्योंकि यह अन्तर्मुखी सिद्धि है, सूक्ष्म विज्ञान है, सचेतन शास्त्र है! इसके सत्य को हमारी स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है। असल में यह शास्त्र अधिक उपकरणों की आवश्यकता नहीं रखता, इसलिए बाहर का सामान या मशीनी जटिलता इसमें नहीं है। यही एक कारण है कि यह बहुत गहरा तकनीक है। इसके लिए पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है। वैसे आज के विज्ञान के लिए भी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता तो रहती ही है, पर वह व्यवहार में है इसलिए वह आवश्यकता हमें मालूम नहीं होती।

भौतिकवाद दृष्टिकोण ने आत्मवादी मंत्र-विज्ञान की प्रतिष्ठा कम कर दी और इस उपेक्षा के कारण ही मंत्र-विज्ञान के जानकार और सिद्धियां कम होती गईं। आज सिरदर्द करने पर सेरीडोन की एक गोली

के चमत्कार को मानने वाले मिल जायेंगे—झाड़ने से मोतीझारे जैसी भयंकर व्याधि अथवा पीलिया जैसी बीमारी के दूर होने की बात को कल्पना या अन्धविश्वास कहने वाले भी मिल जायेंगे, पर उसे सत्य मानने वाले बहुत कम मिलेंगे। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ऐसे इलाज करने वाले हर जगह नहीं मिलते, लेकिन इसमें भी आज के भौतिकवादी दृष्टिकोण का ही दोष है, जिसने उस अमूल्य विज्ञान की कद्र कम कर दी है, लेकिन कद्र कम होने का अर्थ यह नहीं हुआ करता कि वह बात ही असत्य है।

मंत्र-विज्ञान की चर्चा करने वाले से लोग यही प्रश्न करते हैं—आपके पास कुछ चमत्कार है तो बताओ, आपके पास कोई सिद्धि है तो दो। इसका अर्थ यह होता है कि आज के व्यक्ति का तरीका बदल गया है, वह घोर भौतिकवादी हो गया है, वह हर चीज बिजली के पंखे की तरह या हवाई जहाज के टिकट की तरह खरीद लेना चाहता है। आत्मवादी अतएव अतीन्द्रिय-विज्ञान कभी भी इतना सस्ता नहीं होता कि उसे भौतिक उपकरणों से खरीदा जा सके। आज आकाश में उड़ने वाले हवाई जहाज के चमत्कार से चौंधियाया आदमी विमान पर साधारण रूप से विश्वास नहीं करता। सम्पूर्ण मंत्र-विज्ञान को अविश्वसनीय कह सकता है, पर वह यह नहीं सोचता कि इस हवाई जहाज को उड़ाने के लिए कितने व्यक्ति काम में लग रहे हैं इस पर जमाने की कितनी आस्था है, इस पर कितना पैसा खर्च किया जा रहा है। मंत्र-विज्ञान पर अविश्वास करने वालों से मेरा विनम्र निवेदन है कि आज की वैज्ञानिक उन्नति के लिए जितना पैसा खर्च किया जा रहा है, जितने परीक्षण किए जा रहे हैं, जितना सम्मान दिया जा रहा है उसका सौवां हिस्सा भी इस तथाकथित अन्धविश्वास के लिए किया जाता तो उनके अविश्वास में कोई आधार बनता। मंत्र-विज्ञान की एक पुस्तक पढ़कर, उसमें बताए ढंग से जप-होम कर लेने मात्र से कुछ प्राप्त नहीं होता। इस तरह के प्रयोगों के असफल होने पर मंत्र को असत्य बताना भी नादानी ही होती है। सच तो यह है कि आज के मशीनी युग में जड़वादिता है, इस जड़वादिता को चेतनवादी बनाने के लिए उसी भाषा में समझना-समझाना पड़ेगा जो

आज के युग की व्यावहारिक भाषा है। मंत्र की शक्ति और सत्य आज मात्र इसलिए अन्धविश्वास है कि उसे समझने वाले लोग कम रह गये हैं और जो समझते हैं वे उसको युग की भाषा में समझाने की कोशिश नहीं करते। यही कारण है कि मंत्र और आज के जीवन में बड़ा गहरा अन्तराल पड़ गया है, जिसे हम अन्धविश्वास के नाम से जान रहे हैं। मंत्र अपनी जगह हैं, मंत्र-विज्ञान की टैक्नॉलोजी अपनी पारिभाषिक शैली और शब्दावली में है और आज का मानव अपनी आविष्कृत वस्तुओं के नामकरण एवं अनुसंधान में व्यस्त है। दोनों को जोड़ने वाला कोई सेतु नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा पुरातन विज्ञान इन नये आविष्कारों में ढलता तो विज्ञान के आविष्कारों के कारण उत्पन्न बहुत-सी समस्याए, विषमताएं, भय और आशंकाएं नहीं रहतीं। आज के समाज में प्रसार पा रही हृदयहीनता, स्वार्थपरता और अशान्ति इस रूप में व्यक्ति के जीवन को ऊब नहीं बना पाती, क्योंकि उसमें व्यक्ति और समाज, अन्तर और बाहर, धर्म और विज्ञान को जोड़ने की योग्यता थी। उनमें विकल्प नहीं था समन्वय था, विश्लेषण या विखण्डन नहीं था समाहार या समायोजन था।

इस सारे विवेचन के सन्दर्भ में यह स्पष्ट रूप से उजागर हो गया है कि भौतिक-विज्ञान कितनी भी छलांग लगा ले, जब तक वह व्यक्ति में छिपे विराट् को नहीं पहचान पायेगा तब तक सारा समारंभ एक लक्ष्यहीन दौड़ ही बना रहेगा। अतः आवश्यकता है उस प्राचीन सत्य को आधुनिक विज्ञान की शैली एवं शब्दावली में समझने की। किसी भी वस्तु के दो पहलू होते हैं, दोनों पहलू सम्पूर्ण होने पर ही वह वस्तु पूर्ण होती है और उन दोनों पहलुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही व्यक्ति अपने ज्ञान की पूर्णता का दावा कर सकता है। मंत्र के दो पहलू हैं सिद्धि और साधना। सिद्धि लक्ष्य और साधना लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग। आज का विज्ञान कारणाश्रयी विज्ञान है। वह 'क्यों' और 'कैसे' से चलता है। पहले का अन्तर्मुखी विज्ञान वेद वचन पर विश्वास करने वाला आस्थाश्रयी विज्ञान था। उसमें 'क्यों' और 'कैसे' को अवकाश नहीं। दूसरा कारण यह भी था कि यह भारतीय विज्ञान चेतन विज्ञान था, इसलिए इसकी सारी

कार्यविधि और अनुभव को एक रूप में निश्चित करना संभव भी नहीं था।

भौतिक-विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार मंत्र दो रूपों में अध्ययन का विषय है। पहला आधार है ध्वनि और दूसरा आधार है उस शब्द की भावना। ध्वनि व्यक्त है और भावना अव्यक्त। सुविधा के लिए भावना को विद्युत् का प्रतीक मान लेते हैं। इस प्रतीक भावना में न अव्यवहार है न वैज्ञानिक पद्धति का विरोध या असंगति। भारतीय विज्ञान व्यक्ति में पांच कोष मानता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, चैतन्यमय और आनन्द-मय। आज के सिद्धान्त इन कोषों का विरोध नहीं करते, वे इन्हें किसी और नाम से, किसी दूसरे प्रकार से मानते हैं, अस्तु। इसका विवेचन यथा-समय किया जाएगा, सम्प्रति भावना को विद्युत् का प्रतीक मानने के सूत्र का स्पष्टीकरण अभीष्ट है।

हमारे शरीर की सचेतना के पीछे, इस दृश्य शरीर के अलावा दो शरीर और हैं। इस पांच भूतों से बने शरीर को भारतीय शब्दावली में देह कहते हैं जिसमें प्राण का निवास है और तकनीकी नाम है 'फिजीकल बॉडी' जिसका दूसरा शरीर भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से आस्ट्रल और भारतीय शैली में पुद्गल तथा तीसरा मानसिक एवं 'साइकालाजिकल बॉडी' के नाम से समझा जाता है। उपरिवर्णित अन्न एवं प्राणमय कोषों का समावेश भौतिक देह में मनोमय व आनन्दमय का मानसिक में तथा चैतन्यमय कोष का वैद्युतिक (आस्ट्रल अथवा पुद्गल) शरीर में हो जाता है। हमारी भावना को स्थूल देह तक आने के लिए वैद्युतिक शरीर में होकर आना पड़ता है जिसका अर्थ यह हुआ कि जो भावना सूक्ष्मरूप से हमारे मन का विषय थी उसे तरंगों के रूप लाने के लिए विद्युत् रूप ग्रहण करना पड़ता है और अन्तिम स्थिति में, मूर्तरूप लेने के लिए स्थूल शरीर तक आना पड़ता है। भावना जब ध्वनि का रूप ग्रहण करती है तो उसमें शक्ति एवं सामर्थ्य की न्यूनाधिकता व्यक्ति की मानसिक किंवा वैद्युक्ति क्षमता पर ही निर्भर करती है। हमारी बात में वजन आना, हमारे वचन का प्रभावशाली होना, किसी गीत का यथोचित प्रभाव डालने योग्य होना, इन सबके पीछे वही वैद्युतिक शक्ति काम करती है। साधारणतया मंत्र का सूत्र माना जाएगा, श × वि = मंत्र। अर्थात् शब्द

जिसे ध्वनि के रूप में माना जाता है। यह तत्त्व जब भावनाओं की विद्युत् से गुणित होता है तो मंत्र का स्वरूप बनता है। मंत्र न केवल भावना की शक्ति है न कोरी ध्वनि ही, बल्कि ध्वनि शक्ति को वैचारिक विद्युत् से गुणित करने पर गुणनफल मंत्र माना जाता है। इस भावना विद्युत् को इच्छा-शक्ति 'विल पॉवर' के नाम से आज वैज्ञानिक स्वीकृति मिल चुकी है।

हमारे वैद्युतिक शरीर का महत्त्व शनैः-शनैः भौतिक-विज्ञान के लिए अध्ययन का विषय होता जा रहा है। 'अपोलो ११' के अन्तरिक्ष यात्रियों के स्वास्थ्य का हाल जानने के लिए एक यन्त्र लगाया गया था जो उन यात्रियों के शरीर में होने वाले विद्युत् प्रवाह की सूचना धरती तक भेजा करता था और उस सूचना के आधार पर वे अन्तरिक्ष यात्रियों के स्वास्थ्य की स्थिति जान लेते थे। यद्यपि आज यह विधि इतनी सामान्य नहीं हुई कि हरेक चिकित्सक इसका उपयोग कर सके, किन्तु भविष्य में इस सम्भावना से और इस विधि के विकास से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। यही विधि भारतीय विज्ञान के लिए विशेषतया मंत्र-विज्ञान के लिए व्यापक रूप से ज्ञात आधार रही थी। हठयोग और मैस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म 'विल पॉवर' का चमत्कार तो हैं ही, वैद्युतिक शक्ति का आश्चर्य भी है।

शरीर में प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली बिजली दैनिक कार्यों में काम आती है अथवा उपयोगहीन अवस्था में व्यर्थ चली जाती है। मन के द्वारा अर्जित विद्युत् सूक्ष्म रूप से विचारों के रूप में प्रवहमान रहती है। शरीर के द्वारा उत्पादित विद्युत् इन्द्रियों के माध्यम से निर्गत होती है। इस घार्षणिक एवं चुम्बकीय विद्युत् के निर्गम के द्वार मुख्य रूप से हाथ एवं आंखें हैं। हठयोगी या मैस्मेरिज्म करने वाला आंखों से मोहनिद्रा के वशीभूत करता है, हाथों से पासिंग करके पात्र की विद्युत् शक्ति को निष्प्रभ करके उसके मानसिक शरीर पर नियन्त्रण करता है। मन की विचार तरंगें भी मुख्यतया आंखों के माध्यम से गमन करती हैं। वैसे इन तरंगों के लिए आंखें ही एकमात्र निर्गमद्वार नहीं हैं, पर प्रत्यक्ष सम्पर्क होने पर आंखों की मूकभाषा सब कुछ समझा देती है। आंखों के त्राटक

से सिंह का सम्मोहन भी संभव है। हमारे इर्द-गिर्द घूमने वाले कुत्तों पर इस शक्ति का प्रयोग करके देखा जा सकता है। यदि किसी कुत्ते की तरफ हम स्निग्ध दृष्टि देखेंगे तो वह पूंछ हिलाने लगेगा और क्रोध से देखने पर गुर्राने लगेगा। यह मानसिक विद्युत् का भावनात्मक प्रतिफल नहीं तो और क्या है?

प्रथम दृष्टि में ही प्रेमपाश में बंध जाने के मुहावरे की सत्यता का कारण यही मानसिक विद्युत् का तीव्र प्रवाह है। शारीरिक एवं मानसिक विद्युत् में विचार संप्रेषण योग्यता रहती है। इसका दूसरा अनुभव सिद्ध प्रयोग भी है। मान लीजिए हम एक रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे हैं, हमारे पास एक ऐसा व्यक्ति बैठा है जिससे हम सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं। हम इस भावना को बिना शब्दों में व्यक्त किए ही उस निकटस्थ व्यक्ति तक पहुंचा सकते हैं। हमारे स्पर्श से हमारे विचार उस तक संक्रमण कर जायेंगे और यदि उस व्यक्ति में हमसे कम प्रभाव है तो वह हमारी भावनाओं का प्रभाव ग्रहण कर लेना अथवा हमारे विचारों में अतिशय पवित्रता है तो भी वह उसे अनुकूल बना लेगा। यह सब विद्युत् शरीर की सक्षमता भी माना जा सकता है।

दोनों ही विद्युत् एक प्रकार की नहीं होतीं। एक होती है ऋणात्मक, दूसरी होती है धनात्मक। घार्षणिक ऋण धनात्मक जिसे देह 'जैनरेट' करता है, चुम्बकीय-उभयात्मक जिसे मन उत्पन्न करता है। इनका विनियोग-उपयोग विद्युत् शरीर करता है जो सीधे मन के अनुशासित है। हाथ मिलाने की यूरोपीय परम्परा भारत के लिए आदर की वस्तु नहीं, क्योंकि उसमें दूसरे व्यक्ति की अनुकूल-प्रतिकूल विचारवाही विद्युत् के सम्पर्क से प्रभावित होना पड़ता है। भारतीय हाथ जोड़ते हैं जिसका अर्थ होता है ऋणात्मक और धनात्मक विद्युतों को स्वयं में सीमित करना। बड़ों के द्वारा सिर पर हाथ रखकर आशीष देने का अर्थ होता है उनकी विद्युत् शक्ति का हमारे में प्रक्षेप।

हमारे शरीर में दोनों प्रकार की चुम्बकीय और घार्षणिक-विद्युत् का प्रवाह अनवरत रूप से चलता रहता है। चुम्बकीय विद्युत् मानसिक शरीर से प्राप्त होती, घार्षणिक भौतिक शरीर से। हमारे सिर में दर्द होने

पर हाथ से दबाने से तसल्ली मिलती है, इसका कारण केवल रक्त प्रवाह में सन्तुलन या आवश्यकतानुसार तीव्रता उत्पन्न होना ही नहीं होता, प्रत्युत हाथ से निकल रही विद्युत् तरंगों द्वारा बिजली के सर्किट में उत्पन्न न्यूनता या अधिकता का सन्तुलन भी होता है। रक्त प्रवाह के तीव्र होने से केवल सर्दी के कारण उत्पन्न सिर दर्द ही कम या बन्द हो सकता है थकान या इलैक्ट्रिकल सिस्टम की खराबी के कारण हुआ सिर दर्द बन्द नहीं हो सकता। इसके समानान्तर एक उदाहरण हम अपने जीवन में और देख सकते हैं। हाथ सीने पर रखा रहे तो कई व्यक्तियों की नींद में भयानक सपने दीखते हैं, इसका कारण भी यही है कि हाथ से निकलने वाली विद्युत् तरंगों का प्रवाह रक्त संचार-संस्थान के केन्द्र, हृदय को प्रभावित करता है।

कभी-कभी हम किसी नई अपरिचित जगह पर जाते हैं तो वहां देर तक नींद नहीं आती, इसका कारण यह होता है कि उस स्थान में स्थित विद्युत् तरंगों का सामंजस्य हमारे शरीर की विद्युत् से नहीं हो पाता। डाकुओं के बीहड़ में या शेर की मांद के आसपास हम भयभीत हो जाते हैं क्योंकि उस वातावरण में सूक्ष्म रूप से फैली विद्युत् तरंगें उग्र और शक्तिशाली होती हैं। वे हमारे शरीर के पावर सर्किट को क्षीणशक्ति करने लगती हैं, जिसे हम भय अथवा कातरता के रूप में अनुभव करते हैं। ऋषियों के आश्रमों में सिंह और मृग एक ही घाट पर पानी पीया करते थे। इसका रहस्य भी यही था कि ऋषियों की शक्तिशाली ऊर्जा वातावरण में फैली रहती थी और उसके प्रभाव के कारण प्राणी अपने जन्म-जात वैर को भूल जाया करते थे। आश्रम में जाने पर लोगों को परम शान्ति का अनुभव इसीलिए होता था। जिन जगहों को भुतहा कहा जाता है वहां किसी आत्मा का रहना एक तथ्य है, किन्तु कई बार कई दृश्य घटित होते दिखते हैं। इस दृश्य दर्शन का भारतीय दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण यह है कि उस वातावरण में घटित घटनाओं की अथवा रह चुके व्यक्तियों की विचार तरंगें जब किसी व्यक्ति विशेष के विद्युत् शरीर की पकड़ में आ जाती हैं तो मन उनको अनुभव का विषय बना लेता है। मन इतना समर्थ है कि वह अपने अनुभव को बलात् इन्द्रियों पर लाद देता है और इन्द्रियां

उसे मूर्त रूप से ग्रहणीय मान लेती हैं अन्यथा मृत प्राणी और घटनायें पंच भूतों के समावेश योग्य होती ही नहीं है, पर ऐसा ठीक वैसे ही हो जाता है जैसे किसी ने सपने में नोटों का बण्डल पाया हो और उसे इतना विश्वास हो गया हो कि वे उसके तकिये के नीचे धरे हुए हैं।

मानसिक शरीर में संकल्प-विकल्प होते ही रहते हैं। मंत्र की चुम्बकीय शक्ति को समझने के लिए मन की शक्ति और विद्युत् तन्त्र की कार्यविधि को समझ लेना आवश्यक होगा। इस सूत्र को अपने जीवन में घट रही घटनाओं के माध्यम से समझना अधिक सरल रहेगा। वास्तव में मन का काम ट्रान्समीटर और रिसीवर जैसा होता है। वह अपनी भावनाओं का प्रसारण भी करता है और संग्रहण भी, पर इन सबके लिए पुद्‌गल शरीर 'इलैक्ट्रिकल बॉडी' का माध्यम आवश्यक होता है। मन ने जिन संकल्पों को जन्म दिया, जिन कल्पनाओं का सृजन किया उनको तरंगों के रूप में संप्रेषणीय बनाना और वायुमण्डल में तैर रही तरंगावली को पकड़कर विचार अथवा कल्पना के रूप में परिवर्तित करने के लिए मन को समर्पित करना पुद्‌गल शरीर की विशेषता है। कई बार हम देखते हैं कि हमारे मन में हमारे निकटस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य के बारे में आशंका खड़ी हो जाती है और कालान्तर में वही आशंका सत्य भी सिद्ध हो जाती है। ऐसा इसीलिए होता है कि हमारे मन ने विद्युत् शरीर के सहयोग से उन तरंगों को पकड़ लिया जो हमारे लिए छोड़ी गई थीं। इन तरंगों के लिए समय या दूरी कोई महत्त्व नहीं रखती। महत्त्व रखती है संप्रेषक की भावना और संग्रहीता के मन की संवेदनशीलता।

दरअसल मन दो प्रकार का काम करता है, स्वयं भी कल्पना करता है और बाहर की विचारावली को भी ग्रहण करता है। उसकी कल्पना की सीमा, ज्ञान और अनुभूत का ही विविध रूपों से समायोजन करने तक है अथवा प्राप्त अनुभवों की प्रतिक्रिया तक है। नवीन उद्‌भावना का कहीं न कहीं आधार होता है, मूर्त आधार! अथवा किसी विधि विशेष के कारण मन की शक्ति का विकास करने पर अलौकिक और अतीन्द्रिय अनुभूतियां हो जाया करती हैं।

हम अपने मन को स्वच्छ करने पर कई विशिष्ट अनुभव कर लेते हैं।

मन के स्वस्थ होने का लक्षण भी यही है कि उसे जो भी कहा कुछ जाए वह स्वतः कर ले। मान लीजिए हमें रात के दो बजे की गाड़ी से जाना है और हम आश्वस्त होकर सो गए हैं। ठीक दो बजे के आसपास हमें चेत हो जाता है तो यह मानसिक स्वस्थता का चिह्न है। यह स्थिति कोई असंभव वस्तु नहीं है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए आवश्यकता है मन को निर्मल करने की। मन में विकार आहार, संसर्ग, आवेश आदि कारणों से आते हैं। यदि इनमें सावधानी बरती जाए तो मन की शक्ति से परिचित हुआ जा सकता है। मन को संवेदनशील बनाने के लिए (संवेदनशील तो मन होता ही है पर उसे हमारी इच्छा और दिशानुसार काम करने योग्य बनाने के लिए) मंत्र बहुत बड़ा साधन है। हमारा मन निर्मल है तो वातावरण में हो रहे सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन को भी वह पकड़ लेगा, वातावरण में हो रही साधारण से साधारण घटना को भी वह ग्रहण कर लेगा तथा कालान्तर में वह उन्हीं सन्देशों को पकड़ेगा जो इसके लिए आवश्यक हैं और संप्रेषणीय विचारों को इतने समर्थ ढंग से ट्रांसमिट करेगा कि वे प्रभावशाली गति एवं प्रकार से गमन करें। मंत्र साधन में यह बात प्राथमिक उपलब्धि हुआ करती है। साधारण स्थिति में हमारा मन एक बिगड़े ट्रांसमीटर रिसीवर सैट की तरह हुआ करता है। यह अनावश्यक सन्देशों का संग्रहण भी करता है तो क्षीण विचार तरंगों का संप्रेषण भी करता है।

विज्ञान की नवीनतम खोजों के आधार पर आज यह विश्वास की बात हो गई है कि जनसंख्या वृद्धि का सबसे बड़ा भय भीड़ होगी। बढ़ती जनसंख्या का पेट भरा जा सकता है, पर भौतिक-विज्ञान की जड़ मशीनों के कारण बेतहाशा बढ़ रही भीड़ के विचारों पर नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता और चूंकि यह विचार तरंगों की भीड़ धर्म से शासित नहीं है इसलिए व्यक्ति को इतना उच्छृंखल कर देगी कि शासन और व्यवस्था का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। आज व्यक्ति दुःखी है, टूट रहा है, परेशान है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि आज के वायुमण्डल में अनर्गल विचारों का विष फैला हुआ है, उनको सन्तुलित करने वाले आश्रम नहीं हैं। फैक्टरियों से उठते धुएं के विष का शमन करने वाली

होमाहुतियों की धूम लुप्त हो गई है, अनाचार की भावनाओं का शमन करने वाली पवित्र भावनाएं क्षीण हो गई हैं। मशीनों की कर्कश आवाज को हतप्रभ करने वाली संगीत एवं स्वस्ति वचन की लहरों का अनुपात बहुत कम हो गया है। वास्तविकता यह है कि आज के वायुमण्डल में बड़ी क्रूरतापूर्वक अनाचार और निरंकुशता के विचार छोड़े जा रहे हैं, एकान्त में या स्वतन्त्रता के पवित्र अधिकार का उपभोग करता हुआ व्यक्ति सामाजिक रूप से अनाचार तथा अशान्तिकर विचारों का प्रसार कर रहा है और वे विचार तरंगों का रूप ग्रहण करके शेष समुदाय को दुःखी एवं पथभ्रष्ट किए दे रहे हैं। वायु संदूषण के ज्ञात भय से अधिक विचार-दूषण का भय उत्पन्न हो गया है और यह व्याधि अत्यन्त उग्र रूप से हमारे लिए अनिवार्यता बन गई है। आज का मानव शारीरिक दृष्टि से नहीं मानसिक दृष्टि से क्रूर, रुग्ण और दयनीय बन गया है। यह क्रूरता इस सारे समाज को उसी तरह लील जायेगी जिस तरह यदुकुल आपस में ही लड़कर नष्ट हो गया था। आज का वैज्ञानिक इस भय से परिचित हो गया है, किन्तु वह इसका प्रतिकार कर सके, इसमें सन्देह ही है। हो सकता है विश्व की जनसंख्या पर नियन्त्रण पा लिया जाए, पर नियन्त्रण पाने तक इस संसार के वातावरण में इतने दूषित विचार एकत्रित हो जाएंगे जिनका पवित्रीकरण शायद संभव ही नहीं हो अथवा जैसा होता आया है कि पुराने को मिटाकर नया बनाने के लिए उस लीला पुरुष को फिर आना पड़े। खैर अन्तरिक्ष युग में मंत्रों का पक्ष लेना और वर्तमान पीढ़ी का ध्यान इस ज्ञान की ओर आकर्षित करने का मेरा निगूढ़ आशय यह भी है कि इससे विचार मण्डल शुद्ध होगा।

मंत्र के जप में हल्का भोजन, संयम से रहना, पवित्रता का ध्यान रखना आदि बातें पूर्व सावधानताएं हैं जिनसे मन अन्तर्मुखी बनता है। मंत्र के जप से मन की शक्ति उद्दीप्त होती है और उसकी ऊर्जा को एक राजमार्ग मिलता है। मंत्र में विशिष्ट ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है। मंत्र साधन में भावनात्मक एवं मानसिक उर्जा का क्या महत्व होता है, यह बात संक्षेप से उदाहरणों द्वारा सिद्ध कर दी गई है। उस बिजली की कार्यविधि भौतिक-विज्ञान द्वारा प्रदर्शित कार्यविधि से

भिन्न नहीं है।

अब प्रश्न आता है शब्द का। शब्द के लिए ईसाई वेद कहता है, भगवान् शब्द स्वरूप है। भारतीय शास्त्र कहता है शब्दो वै ब्रह्म। इन उक्तियों में आश्चर्य भी नहीं है और कोई असाधारणता भी नहीं है। वही सत्य है जो अन्तर्मुखी द्रष्टाओं ने देखा-पाया है। शब्द अक्षर है, ध्वनि रूप ग्रहण करने के बाद शब्द का विनाश नहीं होता है। अनन्त अन्तरिक्ष में वे सारी ध्वनियां सनातन रूप से स्थित रहती हैं। शब्द को अविनाशी प्रभु एवं व्यापक मानने वाला सिद्धान्त इसी आधार पर स्थापित हुआ है। हमारे दैनिक जीवन में हम जिन शब्दों का व्यवहार करते हैं वे स्थूल जगत् के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए हम अनन्त और विशाल शब्द का प्रयोग करते हैं। साधारण स्थिति में बुद्धि इसका अर्थ सीमाहीनता और विस्तृत सीमा से लेती है, पर यह परिज्ञान निष्प्राण और शुष्क रहता है। रात्रि में जब हम अपने सिर पर छाये अनन्त आकाश की ओर देखते हैं, उसमें चमक रहे, गतिशील विशाल पिण्डों को देखते हैं तो अनन्त शब्द सजीव हो उठता है। ऐसे ही किसी महासागर के मध्य में या किनारे पर स्थिति होकर उस विस्तीर्ण जलराशि को देखते हैं तो विशाल शब्द का आत्मदर्शन करते हैं। मंत्र जिस भाषा के माध्यम से रूप ग्रहण करते हैं वह अत्यन्त वैज्ञानिक है, उसमें शब्द को आत्महीन नहीं माना जाता। प्रकृति का रहस्य उस भाषा की शब्द योजना में स्वत: प्रमाण बनकर आता है। इस वैज्ञानिक आधार पर ही शब्दों का ज्ञान हुआ है, ध्वनि को मानवीय रूप मिला है, भाषा विशाल अविनाशी अनन्त ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप बन सकी है। मंत्र में प्रयुक्त शब्दों का इतिहास ऐसा ही अनुभव-गम्य है। यदि जप ही सब कुछ होता और भावना ही महत्त्व रखती तो तराजू जपने से भी कार्यसिद्धि हो सकती थी, किन्तु ऐसा न संभव था, न उचित। इस दृष्टि से यह शंका हो सकती है कि कृष्ण शब्द तो पहले ही था फिर कृष्ण के जन्म लेने के पश्चात् ही वह शब्द मंत्र की श्रेणी में किस तरह आ गया? यह शंका सत्य है पर इसके समाधान में दो युक्तियां हैं। पहली युक्ति है कृष्ण उस परम सत्ता का लीला-विग्रह थे और वह अनन्त अपरिमेय शक्ति सघन कृष्ण वर्ण ही हो सकती है। इसलिए, बना-बनाया

प्रतीक दे दिया। इससे ऐसा लगा कि वह बुद्धिगम्य कृष्णता का प्रतीक कृष्ण शब्द सजीव हो उठा था। दूसरी युक्ति यह है कि उन शब्द प्रतीकों में उस लीला पुरुष के कृत्यों ने शक्ति डाल दी। यह बात उसी तरह होती है जिस तरह कोई व्यक्ति बैट्री के सैल्स के रूप में चार्ज करके रख दे। वस्तुतः जिन्हें हम ऋषि कहते हैं उन्होंने मंत्रों में शक्ति की प्रतिष्ठा उसी तरह की है जैसे पत्थर की तराशी गई मूर्ति को मन्दिर में स्थापित करने पर उसमें विधिपूर्वक प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है और वह पूजनीय बन जाती है। विवकानन्द, परमहंस, गांधी और लिंकन के नाम पहले भी थे, किन्तु इन व्यक्तियों के जीवन और कृत्य इन नामों को स्पृहणीय बना गए। यह बात लोकव्यवहार से सिद्ध है।

शब्द में संप्रेषणीय शक्ति अत्यन्त सशक्त रूप में विद्यमान है। उसकी गति अव्याहत है। जल, पृथ्वी और बिजली से अधिक गतिशील है, यह और किसी भी माध्यम से गमन कर सकता है। ठोस पदार्थ के इस ओर किया गया आघात उस ओर सुना जा सकता है। हमारे कान की सुनने की शक्ति की एक रेंज—परिसीमा बंधी हुई है अन्यथा यह क्षीण से क्षीण और महत् से महत् रूप ग्रहण कर सकता है और समग्र विश्व में अव्याहत रूप से गमन कर सकता है। ईथर के माध्यम से सुगमतापूर्वक गमन करने की क्षमता इसी में है. इसीलिए इसे ब्रह्म के समान अण्भेरणीयान् और महतो महीयान् कहा जा सकता है।

व्यक्ति की सुप्त शक्तियों को उद्दीप्त करने अथवा स्वयं के विराट् से साक्षात् करने के लिए दो राजमार्ग हैं, दो मुख्य प्रकार हैं—एक है मंत्र, दूसरा है योग। मंत्र का चरम साध्य भी एकत्व है तो योग का अन्तिम प्राप्य भी मुक्ति है। मुक्ति कोई कल्पित आयाम अथवा स्थिति नहीं है, एक साधारण स्थिति है जो भारतीय गहन चिन्तन का निष्कर्ष है। मंत्र इस विश्व में व्याप्त अनेकत्व में एक तत्त्व का अन्वेषण करता है। भौतिक सिद्धियां मंत्र की अन्तिम लक्ष्य नहीं होतीं, पर ये चमत्कार उसके सामर्थ्य के आगे कोई विशेष महत्त्व भी नहीं रखते। मेरा आशय यह है कि जो अणुविद्युत् हमारे घर में हलका-सा प्रकाश फैलाने वाले वाल्व में चमकती है वही अकल्पित शक्ति का केन्द्र होती है। जीवन और जगत् का परम

सत्य उद्‌घाटित करने की क्षमता मंत्र में है। योग प्राण तत्त्व अर्थात् वायु के ज्ञान-नियन्त्रण को आधार मानता है और उसकी शक्ति का प्रत्यक्षीकरण करता है। मंत्र आकाश तत्त्व की उपासना है। किन्हीं दृष्टियों से मंत्रविधि योग से अधिक सरल-सुगम रहा करती है। आकाश में एक ही तन्मात्रा है अर्थात् एक मात्र शब्द ही आकाश का व्यक्तिकरण है। योग वायु तत्त्वाश्रयी है, इसलिए उसमें शब्द और स्पर्श ये दो तन्मात्रायें हैं। दो तन्मात्राओं के कारण वायुतत्त्व की सामर्थ्य कम हो जाती है और उस पर भार भी बढ़ जाता है इसीलिए योग की पूर्व सावधानियां अधिक हैं, कठोर हैं।

प्रश्न है मंत्र में शब्द के महत्त्व का। विश्व के मंत्र-शास्त्र को भारतीय संस्कृत के मंत्र निर्माण की विधि ने बहुत बड़ी देन दी है। यद्यपि आज के साबर मंत्रों में 'लूणा चमारी की दुहाई' 'महमदा पीर की दुहाई' और 'गुरु गोरखनाथ का वजन साचा' जैसी शब्दावली प्रयोग में आती है, तथापि इसमें न वह वैदिक या तन्त्रोक्त मंत्रों जैसी सामर्थ्य है न शास्त्रीय आधार। ये मंत्र काम करते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं, पर इनकी इस कार्यक्षमता के पीछे विश्वास और उन चरित्रों के तप का ही तत्त्व है। तिब्बती या बौद्ध मंत्रों में भी संस्कृत के इस सूत्र की उपेक्षा नहीं की गई है। इतर देशों के मंत्र, मंत्र न होकर तन्त्र हो जाते हैं, उनको मंत्रों का महत्त्व नहीं मिल सकता। आइये, जिस आधार पर मंत्रों का गठन होता है उसका वैज्ञानिक आधार समझ लें।

संस्कृत विश्व में प्रथम और अद्वितीय भाषा है जिसकी शब्दावली के निर्माण का ठोस आधार है और जिसके पास नवीन शब्द निर्माण करने की अप्रतिम शक्ति है। आज का विज्ञान जिसे तत्त्व कहता है वह एलिमैण्ट है। संस्कृत का तत्त्व इस एलिमैण्ट से भिन्न और विशाल वस्तु है। तत्त्व शब्द का अर्थ है 'उसका भाव'। 'वह' है परम ब्रह्म जिसका फलितार्थ यह हुआ कि ये तत्त्व के नाम से ज्ञात पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश उस परब्रह्म के भाव हैं। यह सारा संसार जो आंख से देखा जाता है, कान से सुना जाता है और त्वचा से अनुभव किया जाता है; इन पांच तत्त्वों का करिश्मा है। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी, पर्वत इन सबका आकार, गुण,

प्रभाव आदि में नानारूप इसलिए हैं कि इनमें इन तत्त्वों का अनुपात बदल जाता है। इस सृष्टि में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो एक तत्त्व का बना हुआ है, क्योंकि सृजन के लिए दूसर तत्त्वों का संयोग एक आवश्यक शर्त है। यदि किसी भी वस्तु में किसी एक तत्त्व का सर्वथा अभाव हो जाएगा तो वह वस्तु नष्ट हो जाएगी। इस विनाश प्रक्रिया के लिए भारतीय तकनीक उत्क्रान्त शब्द बतलाता है। यमराज मृत्यु के प्रतीक इसलिए हैं कि उनके पास उत्क्रान्त करने वाली शक्ति है।

इस संसार की रचना का आधार पंच तत्त्व हैं। इस तथ्य से हम भी परिचित हैं, हमारे पूर्वज भी परिचित थे। इस आधार को ढूंढने से व्यक्ति का जीवन बड़ा सुगम बन गया था। भाषा के कारण ही नहीं, एक गंभीर रहस्य के उद्घाटित हो जाने के कारण भी। हमारी भारतीय-देववाणी का आविर्भाव इस अन्तर्दर्शन का ही फल है। जब यह सर्वविदित है कि पांच तत्त्वों से इस संसार की रचना हुई तो हमारी भाषा भी इसी आधार पर बनी, विकसित हुई। भाषा में पांच वर्ग होते हैं और हर वर्ग में पांच ही अक्षर रहते हैं। स्वर भी पांच हैं तो उनका उच्चारण करने के मुख्य स्थान भी कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और औष्ठ पांच ही हैं। लोक में जिस तरह एक तत्त्व में दूसरे तत्त्वों का समावेश होता है, उसी तरह प्रत्येक वर्ग के पांच अक्षरों की पांच की संख्या उन दूसरे तत्त्वों की उपस्थिति का प्रतीक है। प्रधान तत्त्व का प्रतीक वह वर्ग होता है इसलिए उनकी मुख्यता के साथ दूसरे गौण तत्त्वों का प्रतिनिधित्व शेष अक्षरों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए 'ह' कार से बनने वाले शब्द लें। हस्त, हस्ती, महान्, अहंकार, वराह, अहि, सिंह इत्यादि शब्दों में हकार का योग है। 'ह' वास्तव में आकाश तत्त्व का प्रतीक है। इस अक्षर में आकाश की-सी बुलन्दी और महिमा है। इन शब्दों के प्रतीकों में वह उच्चता किसी न किसी रूप में वर्तमान है। उस महिमा की स्थिति हकार के स्थान एवं बलाघात पर केन्द्रित है। तत्त्व की प्रखरता या मन्दता को मुखर करने के लिए हकार को प्रथम, मध्यम अथवा अन्तिम स्थान मिला है। इसके साथ ही हकार में जोड़े गए स्वर भी उसकी गुणकता तथा मात्रा में वृद्धि-ह्रास का ज्ञान कराते हैं।

भाषा के इस सूत्र के अनुसार शब्द द्रष्टा ऋषियों के लिए सृष्टि के विलासों का नामकरण कोई कठिन वस्तु नहीं रही। संयुक्त राष्ट्रसंघ का नामकरण आज की शती के लिए समस्या हो सकती है, अन्तर्द्रष्टा ऋषियों के लिए नहीं। शब्द की वैतरणी लाने वाले तपःपूत ऋषियों के समक्ष प्रकृति ने जो भी पदार्थ रखा उसके लिए उसका अभिधेय पद देने में कोई विषमता शब्द के सर्मज्ञों के लिए नहीं रही, क्योंकि उन्होंने जिस भी वस्तु को देखा उसके गुण, परिणाम, तत्त्वों का अनुपात एवं आकार को तदनुरूप अक्षर संयोजन करके नाम रख दिया। इस स्थिति में भाषा का वैज्ञानिक आधार भारतीय दृष्टि से सिद्ध हो जाता है। पुष्प को पुष्प ही क्यों कहा ? इस निरर्थक-से लगने वाले और बालकों की-सी जिज्ञासा वाले प्रश्न का सप्रमाण तथा युक्तिसंगत उत्तर भारतीय संस्कृत भाषा दे देती है। कमल के पुष्प को कमल कहने का कारण उसका रूप, गुण एवं तत्त्वों की स्थिति ही है जिसे महर्षियों ने दिव्य चक्षुओं से देखा व अनुभव किया था। कमल के लिए पद्म या शतदल जैसे पर्यायवाची शब्द स्थूल बुद्धि से पर्यायवाची हो सकते हैं, किन्तु ये यथार्थरूप में खण्ड बोध हैं। एक दृष्टि से देखने पर कमल पुष्प का जो रूप दिखाई दिया उसे कमल कह दिया, दूसरे आयाम से देखने पर जो गुण दृष्टिगत हुए उनको पद्म कह दिया, तीसरे प्रकार से आंकने पर जो विशेषता प्रतीत हुई उसे शतदल कह दिया। वास्तव में सतही तौर पर जिनको पर्यायवाची कहा-समझा जाता है वे शब्द उन पदार्थों के अपर नाम हैं जिनमें एक दूसरी स्थिति चित्रित रहती है, परमार्थतः तो ये सारे पर्यायवाची मिलकर ही उसका समग्रबोध करा सकते हैं जैसे हम किसी मकान को आगे से देखकर उसके लिए एक कोण का चित्र बनाते हैं, पिछवाड़े से देखकर दूसरा, बगल से देखकर तीसरा-चौथा, कोण से देखकर आगे की कल्पनायें करते हैं। उस एक ही मकान के विभिन्न रूप असत्य नहीं हैं, पर सत्य समग्र होता है इसलिए उस मकान के सम्बन्ध में जितने कोण बनते हैं, उन कोणों में से देखने पर हमें जो प्रतीति होती है वह खण्ड बोध है, तथ्य है उन भिन्न-भिन्न तथ्यों किंवा खण्ड बोधों का एकीकृत रूप, वह मकान होगा और वही सत्य होगा। एक ही वस्तु के कई नाम होने का रहस्य भी यही है। हम भगवान् के सहस्र-

नाम लेते हैं। इस सहस्रनामता में भी वही तथ्य है कि उसे जितने आयामों से देखा जाए उतनी ही भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीतियां द्रव्य की होती हैं। यथार्थ रूप में वे सारे शब्द या नाम मिलकर ही उस सत्य का निरूपण करने अथवा सम्पूर्ण प्रतीक उपस्थापित करने में समर्थ होते हैं।

यह तथ्य, इस युक्ति से और सिद्ध हो जाता है कि भाषा का निर्माण शब्दों से नहीं अक्षरों से हुआ। बालक भाषा को अक्षरों के रूप में ही सीखता है और बोलता है, शब्दों के रूप में नहीं। यह उदाहरण हमें विश्वसनीय भले ही न लगे पर इस अविश्वास का कोई आधार नहीं है, न इसकी प्रामाणिकता पर किसी प्रकार का सन्देह ही किया जा सकता है। यद्यपि बालक का भाषा-ज्ञान अनुकरण पर निर्भर करता है, पर सृष्टि के आदि प्रतीक, ब्रह्मा के मानस पुत्रों के लिए अनुकरण के स्थान पर अन्तर्दर्शन ही अधिकतम एवं प्रामाणिक युक्ति है। उन अक्षरों से या लघुतम इकाई से शब्दों का गठन ईश्वरीय वरदान रहा था या मानव की स्वर्जित अलौकिक दृष्टि का चमत्कार।

ऐसी सुस्पष्ट आधारभित्ति पर बना भाषा का प्रासाद जीवन्त रहा। वह भाषा हमारी अनुभूति के लिए विपद सरणी ही नहीं स्थूल पर नियामक भी बन सकी। इस संसार के पदार्थों की दशा में परिवर्तन, परिवर्धन भी उनके उग्र अथवा क्षीण होने पर निर्भर करता है इसलिए उन शब्द प्रतीकों के माध्यम से स्थूल पदार्थों को सूक्ष्म के साथ जोड़ दिया गया और वे शब्द की सीमा से दूर छिटक ही नहीं सके। मंत्रों में सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न बीज मंत्र उक्त भाषा सूत्र के स्पष्टतम प्रमाण हैं। तत्त्वों के सन्तुलन से मानसिक शक्तियों को उद्दीप्त करना तथा मन को आत्म-केन्द्रित करना इन ध्वनियों का किंवा शब्दों का विषय था। जो भाषा सारे संसार को परस्पर जोड़े हुए है वही भाषा व्यक्ति को नितान्त तटस्थ एवं अन्तर्मुख कर देती है। यह उस भाषा का चमत्कार नहीं है वरन् भाषा के वैज्ञानिक संयोजन का फल है। भाषा की महिमा को हम समझ नहीं पाते, क्योंकि वह दैनिक अनिवार्यता बन गई है इसलिए हम उसका उपयोग करने में थोड़ी भी सावधानी या दया नहीं दिखाते, निर्मम होकर निरंकुश प्रयोग करते रहते हैं। भाषा का जो वास्तविक महत्त्व राबिन्सनक्रूसो या

या मुनि समझते थे उसी महत्त्व को मन्त्रोपासक साक्षात् करता है। अपने अभीष्ट विषयों की सिद्धि के कारण वह भाषा को पवित्र और उच्चतम स्थान देता है। वैय्याकरणी आचार्यों ने एक-एक शब्द को कामधेनु के समान माना है और इस मान्यता में कोई दोष भी नहीं दिखता। भाषा अथवा शब्द आज के मशीन रूपी प्रतीकों के समान अहर्निश सेवा तत्पर हैं। किसी भी मशीन का बटन दबाने पर वह गतिशील हो जाती है, यही स्थिति भाषा की है और भाषा से अधिक सिद्ध मंत्रों की है। सिद्ध मंत्र को दिन में, रात में, शून्य में या जनसंकुल स्थान में जहां कहीं भी प्रयोग किया जायगा यह कार्य करेगा। मंत्र की इस निराकार मशीन के पीछे इसका तात्त्विक प्रतिनिधित्व ही कार्य करता है। साधक की समस्या के कारण भाषा के वे वाक्य ऊर्जस्वित् हो जाते हैं और उनकी शक्ति विचित्र एवं आश्चर्यपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। जिस शक्ति का दर्शन मंत्र के जप करने पर होता है, यह बात हमारे जीवन में घटती रहती है। गाय को गाय रूप में जानने के लिए और कहने के लिए हमें इस शब्द का कितनी बार जप करना पड़ा था यह बात थोड़ा स्मरण करने से हमें आज भी याद आ सकती है। जप होता है अभ्यास। अभ्यास से व्यक्ति में पूर्णता आती है, इस लक्ष्य से भौतिक-विज्ञान का ध्वजधर पश्चिमी जगत् और आत्मवादी भारत दोनों ही परिचित हैं।

सत्य तो यह है कि आज का विज्ञान निषेध से विधेय को प्राप्त करना चाहता है, विखण्डन से संश्लेषण को प्राप्त करना चाहता है। यह वैसी ही स्थिति है जैसे किसी घड़े का आधा भरा होना। घड़ा आधा भरा है इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि घड़ा आधा खाली है। जितना सत्य घड़े का भरा होना है उतना ही सत्य उसका खाली होना भी है। एक मध्य-बिन्दु वह भी आता है जहां रीतापन और भरापन मिलते हैं। उस स्थिति में भरापन भी है, खालीपन भी है और भरापन भी नहीं है तो खालीपन भी नहीं है। भाषा के क्षेत्र में अधुनातन विज्ञान का यह नकारात्मक प्रश्न व्यवहार में आ रहा है और आज का परिज्ञान उस रिक्तता का ही परीक्षण करता आ रहा है। 'एण्टी', 'एनैलिसिस', 'ऐक्स्सप्लॉयट' ऐसे ही शब्द हैं जो निषेध को उपजीव्य मानकर चलते हैं। अस्तु! मंत्र ने जप

एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसे मंत्र से भिन्न नहीं माना जा सकता। जप में अनवरत अभ्यास करने से विशिष्ट ऊर्जा उत्पन्न होती है जो स्थूल जगत् में अपेक्षित परिवर्तन करती है।

मंत्रों का गठन करके उनको परिणामाश्रयी बनाकर वर्गीकृत कर दिया गया। मारण, मोहन, वशीकरण, रोगनाश, स्वप्नसिद्धि आदि भौतिक सिद्धियों की लालसा से प्रेरित होकर पुराण पुरुषों ने ध्वनि समायोजन करके भाषा को मंत्र का स्वरूप दे दिया। इस समायोजन का सूत्र तत्त्वों के अनुपात को देखकर किया गया था। मारण के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले मंत्रों में वही उत्क्रामक शक्ति है। मारण कर्म के लिए वायु तत्त्व को क्षीण करने वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है अथवा आकाश तत्त्व को उग्र करने वाली वर्णावली का प्रयोग किया जाता है जिससे एक तत्त्व स्वतः क्षीण हो जाता है अथवा दूसरा इतना उग्र हो जाता है कि अन्य को लील जाता है। अभिचार कर्म पर विश्वास करने वाले या देखने-करने वाले जानते हैं कि इस कर्म से जो अनुष्ठान किया जाता है वह अत्यन्त उग्र और भीषण होता है उससे पात्र (जिस पर वह प्रयोग किया जाता है) की हृदय की या मस्तिष्क की शिरायें फट ही जाती हैं। इस आकस्मिकता की कोई चिकित्सा नहीं की जा सकती। वे ध्वनि तरंगें शक्तिशाली विद्युत् प्रवाह के माध्यम से गमन करती हैं और अभीष्ट व्यक्ति के वैद्युतिक शरीर को अस्तव्यस्त कर देती है, जिसका प्रभाव भौतिक शरीर पर पड़ता है अन्यथा यह ज्ञात तथ्य है कि मंत्र द्वारा ऐसा प्रयोग करने पर न कुछ खाने को दिया जाता है न उस व्यक्ति के मन पर तीव्र एवं भयंकर प्रभाव डालने के लिए कोई स्थिति उत्पन्न की जाती है। यह एक अनपेक्षित, आकस्मिक रूप से अनुभव की जाती है। स्तम्भन के प्रयोगों में वायु तत्त्व का शमन किया जाता है तो वशीकरण-सम्मोहन में जल तत्त्व की प्रधानता व प्रतीक वर्णों का संयोग किया जाता है।

रोगनाश के लिए जिन मंत्रों का प्रयोग किया जाता है वे आयुर्वेद के मतानुसार रोग के मूल कारण कफ, पित्त, वात दोषों को प्राकृतिक स्थिति में लाने के लिए हमारे वैद्युतिक शरीर को व्यवस्थित करते हैं। सौभाग्य-वर्धक मंत्र हमारे मानसिक जगत् को प्रभावित करते हैं। जिन मंत्रों में

देव-दर्शन की अथवा उनकी कृपा का प्रसाद प्राप्त करने की व्यवस्था दी गई है वे व्यक्ति के अन्तर्निहित विराट् का साक्षात्कार कराते हैं अन्यथा यह संभव हो ही नहीं सकता कि वह परम शक्ति कोई रूप ग्रहण कर सके और हमारे सम्मुख प्रकट हो सके। वास्तविकता यह है कि उस शक्ति का कोई रूप है ही नहीं। यह व्यक्ति की कल्पना का प्रसाद है जो उसे नाना रूपों में उपास्य मानता है। उपासना करने पर वह शक्ति कोई भी प्रतीक उपस्थित कर सकती है जिसमें व्यक्ति आत्मदर्शन कर ले। उस स्वयं परम ब्रह्म को अथवा पराशक्ति को लोक साधन के लिए जब-जब अवतार लेने की आवश्यकता हुई तब-तब उसने पंच तत्त्वों को ही आश्रय माना और इन्द्रियगम्य शरीर ग्रहण किया। भारतीयों का अवतारवाद इस सिद्धान्त का प्रतीक है। यदि परम शक्ति का कोई रूप होता तो इतने अवतारों के प्रतीक भारतीय जीवन में उपास्य होते ही नहीं। महाभारत युद्ध में परब्रह्म के षोडष कलावतार कृष्ण ने जब अपना स्वरूप अर्जुन को दिखाया तो वह भयभीत हो गया। यह समस्त चराचर, अतीत, अनागत ये सब उस विराट् रूप में दिख गये। वह विराट् रूप कोई निश्चित आकार नहीं था बल्कि इस असीम का दिग्दर्शन था। फिर अर्जुन भी उस अनन्त को अपनी नंगी आंखों से देख नहीं सकता था। कृष्ण ने उसे दिव्यचक्षु दिए तभी वह देख सकने योग्य हुआ। वह विराट् रूप ही परम शक्ति का वास्तविक स्वरूप हो सकता है। वास्तविक रूप है उसकी विराट्ता, गतिशीलता, परिवर्तनशीलता।

शब्द, मंत्र में अनिवार्य तत्त्व है। आज की नवीनतम स्थापना के अनुसार किसी भी शब्द के जप में इतनी शक्ति नहीं आ सकती कि वह स्थूल जगत् में कोई विशिष्ट परिवर्तन कर सके। श्रव्य-ध्वनि—'ऑडिबल साउण्ड' तीस वर्षों तक अनवरत रूप से उत्पन्न की जाए तो उससे इतनी शक्ति उत्पन्न होगी जिससे एक प्याली पानी गर्म किया जा सकता है। शब्द की ज्ञात शक्तियों के आधार पर आज का विज्ञान यह विश्वास करता है कि यही ध्वनि कर्णातीत तरंगों में उत्पन्न की जा सके तो इससे तीस सैकण्ड में इतनी ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। भौतिक-विज्ञान की यह मान्यता मंत्र में अर्थ नहीं रखती क्योंकि मंत्र से जिन लक्ष्यों की प्राप्ति

की जाती है वे ध्वनि पर अथवा ध्वनि के सीधे कर्णगत स्वरूप से सम्बन्ध नहीं रखती। उनके गमन का प्रकार और माध्यम सूक्ष्म जगत् वैद्युतिक तरंगों की विधि है। अधुनातन प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्ति के शरीर तन्त्र में ऐसे अवयव हैं ही नहीं जो कर्णातीत तरंगें उत्पन्न कर सकें। हमारे मुख से उत्पन्न ध्वनि की 'फ्रीक्वैंसी' सीमित है। जिन साधनों से कर्णातीत तरंगें उत्पन्न की जाती हैं उनकी फ्रीक्वैंसी व 'वाइब्रेशन' अति-सूक्ष्म एवं अकल्पित द्रुतता लिए हुए हैं जिनसे बड़ी मात्रा में शक्ति प्राप्त की जा सकती है। यह तथ्य प्रयोगों द्वारा प्रमाणित हो चुका है।

नवीन प्रयोगों द्वारा स्थापित मान्यता के सम्बन्ध में मुझे बहुत नहीं कहना है। मेरा आधार विज्ञान का सामयिक तकनीक अवश्य है, पर उससे आगे भी कुछ है यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं, क्योंकि कोई भी उपलब्धि अन्तिम नहीं हुआ करती। एक सिद्धि दूसरी संभावना का द्वार खोलती है, एक पूर्ति दूसरी आकांक्षा को जन्म देती है, इसलिए विज्ञान का और सिद्धियों का कोई समापन बिन्दु आया ही नहीं करता। मेरा इस संदर्भ में यही निवेदन है कि शायद विज्ञान का यह शैशव है, कालान्तर में वे उपकरण खोज लिए जाएं जो कर्णातीत तरंगों से भिन्न किन्तु अधिक शक्तिशाली तरंगावलियों से परिचय प्राप्त कर सकें।

मंत्र में मुख्यत: ध्वनि का विशेष स्थान नहीं है। ध्वनि से मेरा आशय कर्णगोचर रूप से है। कर्ण से ग्रहणीय ध्वनि की सीमा को ही आज का विज्ञान नाप सका है। कण्ठ के भीतर जिन स्थानों से वे शब्द फूटते हैं उनको जान सकने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किए गए। मंत्र शास्त्र भी श्रव्य ध्वनि को तीसरे स्थान पर मानता है और उसकी गति शक्ति एवं सीमा को अत्यन्त संकुचित समझता है। जिस ध्वनि को सुना जा सकता है उसे प्रौष्ठ माना जाता है। उससे दस गुनी अधिक क्षमता वाले जप उपांशु होते हैं जिनमें ओंठ नहीं हिलते केवल श्वासों के आवागमन में अभीष्ट मंत्र के शब्दों का आभास किया जाता है। उपांशु जप से भी दस गुना अधिक अर्थात् प्रौष्ठ से सौ गुना अधिक शक्तिशाली जप मानसिक होता है जिनमें मन मंत्रनिष्ठ होकर जप का अभ्यास करता है। मन की सहज-संकल्प-विकल्पशीलता इस जप में मंत्र को समर्पित हो जाती है।

मानसिक जप का यह प्रकार काल्पनिक नहीं है। व्यवहारयोग्य तथ्य है, किन्तु अभ्यास साध्य भी है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मानसिक जप व्यवहार सिद्ध है। जब ऐसा जप किया जा सकता है तो उस मंत्र का इन्द्रियातीत स्वरूप हो जाता है। मन चूंकि 'सुपरसेंस' होता है इसलिए उसके द्वारा अनुभूत शब्दावली का उद्भव एवं अस्तित्व कहीं-न-कहीं होता ही है। इस अस्तित्व तक आज का वैज्ञानिक नहीं पहुंच पाया। इसलिए उसका यह मान लेना कि व्यक्ति के वाणी तन्त्र में ऐसा कोई अंग होता ही नहीं जो कर्णातीत तरंगें उत्पन्न कर सके, न कोई अन्तिम सत्य है न विचारणीय निष्कर्ष।

मंत्र के जप में ध्वनिगत शक्ति का सयोजन होता है। मंत्र ध्वनि के कारण ही शक्ति सम्पन्न होता है। शक्ति आती है स्फोट के कारण। मन के द्वारा अनुभव की जा रही शब्द राशि भी शरीर के किन्हीं सूक्ष्म अंगों में स्फोट के द्वारा उत्पन्न हो रही होती है वे स्थान जहां विभिन्न अक्षरों का मूल है तथा स्फोट होता है, साधारणतया ज्ञेय नहीं होते। हमारा शरीर इतना निर्मल नहीं होता कि वह हमारे लिए पारदर्शी हो जाए और हम उन स्थानों को जान लें जहां से भाषा के विविध वर्ण ग्रहण करते हैं। यह विषय मूलतः योगशास्त्र का है। योग की क्रियाओं द्वारा निर्मल किए गए शरीर में षट्चक्रों का स्थान, कार्य एवं स्वरूप जाना जा सकता है। स्वर रहित अक्षरों का उच्चारण करने की सामर्थ्य भी योगी में ही होती है। भगवान शंकर ने एक चक्र विशेष का, जो भृकुटि में होता है— उन्मेष करके काम-वासना को सदा-सदा के लिए व्यर्थ कर दिया था, यह योगी की ही सामर्थ्य थी। सांसारिक विषयाशक्ति से मुक्ति पाने के लिए साधक भृकुटि में ही ध्यान लगाया करता है। इस विश्लेषण के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जहां योगशास्त्र पहुंच चुका है। वहां भौतिक-विज्ञान नहीं पहुंच पाया है। कौन कहे भविष्य में भी इस दिशा में जिज्ञासा जगे या नहीं पर भौतिक-विज्ञान के प्रमाणित किए बिना भी सत्य, सत्य ही रहेगा।

मंत्र का जप करने वाला अनुभव करता है कि जो भगवान शंकर ने योग सिद्धि से किया था, वह शब्द ब्रह्म की उपासना से भी प्राप्त हो

जाता है। कई मंत्रों के अनुष्ठान में काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार (इनको विकार इसलिए कहा गया है कि ये बांधते हैं, मन की शक्ति को क्षीण करते हैं, चित्त की वृत्तियों को वहिर्मुखी बनाते हैं) सर्वत: समाप्त न भी हों तो भी क्षीण होते जाते हैं, कारण कि अभीष्ट मंत्र की शब्दावली का स्फोट जहां से होता है उन कमलों के विकोचन से सात्विक अनुभूतियां, अतीन्द्रिय प्रतीतियां और अन्तर्मुखी उज्ज्वलता स्पष्ट होने लगती है। जागतिक विकारों का आत्यन्तिक विनाश नहीं हो पाता पर वे मन को अधिक आकृष्ट करने योग्य नहीं रहते।

मंत्र के ध्वनि पक्ष के साथ जुड़ा हुआ है लय पक्ष। शब्द का निश्चित आकार होता है, ध्वनि का सुनिश्चित प्रकार। लय को हम ट्यून के रूप से जानते हैं। ट्यून में शब्द का बलाघात, आरोह, अवरोह, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, आदि व्यावहारिकताओं का समावेश होता है। 'रोको—मत जाने दो' वाक्य में यति का थोड़ा-सा विपर्यय करने से 'रोको मत—जाने दो' जैसा अर्थ हो सकता है। इस तथ्य को 'इन्द्र शत्रो विवर्धस्व' के उपाख्यान से समझाया गया है और मंत्र मर्मज्ञ शब्द के साथ उसकी ध्वनि एवं ट्यून को भी समझता है। यही उस मंत्र का प्राण है। शब्द के साथ उसकी ट्यून जुड़ी हुई है और यह ट्यून का ही प्रभाव है कि वह हमको रूलाती है, हंसाती है। बिना गीत के संगीत से—केवल वाद्य यन्त्रों की ध्वनि से—हम दु:खी और प्रसन्न हो सकते हैं। यह ट्यून की ही करामात है। सिंह का गर्जन, बादलों की गरज, समुद्र का तर्जन हमें भयाक्रान्त कर देता है क्योंकि उसकी लय में रूद्रता है। झरने का कल-कल नाद, पक्षियों का कलरव, वंशी की धुन हमें विभोर कर देती है क्योंकि उसमें मनोहारिणी शिञ्जता है। हर्ष देने वाले गीत की शब्दावली को यदि विलाप के सुर में गाया जाए तो वह उपहासास्पद स्थिति उत्पन्न कर देगा—यह सारा कुछ लय का, यति का, ट्यून का ही प्रभाव है। संस्कृत का छन्द-शास्त्र इसी आधार पर निर्मित है। कालिदास के कुमार संभव का 'रति विलाप' अथवा रघुवंश का 'अज विलाप' ऐसे छन्द में लिखा गया है कि श्रोता चाहे संस्कृतज्ञ नहीं हो उसकी आंखों में करुणा-जनित अश्रु उमड़ पड़ेंगे। इस यति को मर्यादाबद्ध करने के लिए शास्त्रीय

आधार दिया गया है जिसका मुख्य स्वरूप गणात्मक है। छन्द-शास्त्र के तगण-रगण आदि गण शब्दों के संयोजन का यति पक्ष हैं। काव्य शास्त्र केवल मानसिक जगत् के लिए होता है, उससे सूक्ष्म अथवा स्थूल जगत् में कोई चमत्कार उत्पन्न करना अभीष्ट नहीं होता इसलिए वह साहित्यिक विभाव-अनुभाव, स्थायी भावों के उद्दीपन-साधारणीकरण तक सीमित रहता है। वह भावनाओं की मन तक यात्रा है, इससे अधिक कुछ नहीं। गणों के स्वरूप निर्धारण से यति का रूप निश्चित किया गया है। मांगलिक स्थलों का वर्णन करते समय भगणादि छन्दों का निषेध है। भगण रूद्र का प्रतीक है, रूद्र है गति का विराम। इस तथ्य की सामयिक पुष्टि रवीन्द्रनाथ के और मैथिलीशरण गुप्त के निधन के समय उनके द्वारा रची गई कविताओं से होती है। मृत्यु के कुछ समय पहले जो कविताएं इन स्वनाम धन्य कवियों द्वारा रची गईं उनमें प्रथम पद भगण का था। इन दोनों उदाहरणों से हमारे प्राचीन ऋषियों की युक्ति भगण से प्रारम्भ होने वाले छन्दों का ग्रन्थारम्भ में अथवा मांगलिक अवसरों पर वर्ण्य विषय के लिए उपयोग निषिद्ध है, सिद्ध हो जाती है। यही तथ्य मेरे मित्र श्री रामचरण शर्मा 'व्याकुल' ने भी उद्घाटित किया जिनके पास रागशास्त्र के और गण स्वरूपों के तान्त्रिक चित्रों का अप्रतिम एवं दुर्लभ संग्रह है। यह यतिगुण भी मूलतः भाषा के गठन सिद्धान्त पर आधारित है। एक भाषा का प्रयोग अनेक स्थानों पर अनेक अर्थों में किया जाता है। यह भाषा ही है जो आज के व्यक्ति के लिए कामधेनु की तरह अनवरत यथेच्छ फलदायी सिद्ध हो रही है। आदमी से आदमी को जोड़ने के लिए विज्ञान, व्यापार, तकनीक, कृषि इत्यादि असंख्य विषयों को और उन विषयों से सम्बन्द्ध व्यक्तियों को परस्पर सूत्रबद्ध करने का काम भाषा द्वारा ही सम्पन्न हो रहा है। शब्द ब्रह्म की यह सर्वविदित रूप गरिमा है।

साध्य के अनुसार शब्द और शब्दावली का अक्षर और वर्णविन्यास का प्रयोग होता रहा है। संस्कृत साहित्य ने शब्द के अन्तस् को टटोलकर अपने वाक्य-विन्यासों की सीमा निश्चित की। यह सीमा अभिधा से प्रारम्भ होकर व्यंजना पर समाप्त होती है। यद्यपि मंत्रशास्त्र अभिधा में लिखा गया है पर उसमें व्यन्जना वृत्ति नहीं हो—यह संभव नहीं है। हां,

मंत्र की व्यन्जना उसकी सिद्धि में, रहस्योद्घाटन में निहित है। यह शायद ऐसी व्यन्जना है जिसका प्रतिपादन—साधन—अवगाहन पथ प्रदर्शन ही कर सकता है। व्यन्जना जैसी वृत्ति का विवेचन करना मेरा अभीष्ट नहीं है, न ही उसका विवेचन इस विधा के लिए प्रासंगिक है, किन्तु यह वृत्ति शब्द से उत्पन्न है इसलिए शब्द के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है, मंत्र इससे भिन्न नहीं है।

अस्तु ! शब्द के स्फोट के स्थान योग शास्त्र ने बताए हैं। इन स्थानों को योग शास्त्रीय शब्दावली में कमल कहा गया है। उन कमलों का आकार-प्रकार और स्थिति मंत्र शास्त्रीय विवेचन में यथा समय स्पष्ट कर दी जाएगी। उन कमलों का विज्ञान चेतन विज्ञान है इसलिए भौतिकवादी विज्ञान की परिसीमा में वह नहीं आ पाता इस दृष्टि से उसका इस प्रसंग में वर्णन भी युक्त प्रतीत नहीं होता।

प्रचलित सिनेमा के रागों की बात मैं नहीं करता पर पक्की राग-रागिनियों को गाने वाले कलाकारों की साधना का जिक्र किए बिना शब्द का गौरवपूर्ण विवेचन अपूर्ण रहेगा। अरब राष्ट्रों की अमर गायिका खलतुम का गला सम्पूर्ण राष्ट्र को आनन्द के सागर में निमज्जित कर देता है। तानसेन व सहगल का नाम आदर के साथ लेने वाले आज भी जीवित हैं, इनकी परम्परा चलती रहेगी। मान लेने योग्य बात है कि राग में गायक का कण्ठ एक तत्त्व होता है, राग का आरोह-अवरोह दूसरा। सामान्य रूप से जिस व्यक्ति के गले में लोच होता है वह अभ्यास करने पर राग-रागिनियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। अति मधुर स्वर देवी वरदान हो सकता है पर अभ्यास सिद्ध पटुता भी अपने स्थान पर महनीय विशेषता होती है। जिन पक्की राग के गायकों के अलाप पर या स्वर साधने के क्रम मे ही आज की पीढ़ी उकता जाती है उसे उन गायकों की साधना के महत्त्व का ज्ञान नहीं है। इन श्रोताओं से मेरा आग्रह है कि कभी वे पक्की राग के अनुभवी गायक से सुनें और यह अनुभव करें कि उनके बोल कहां से निकलते हैं। यह बात कोई बहुत बारीक या न समझ में आने लायक नहीं है, थोड़ा ध्यान देने पर ही यह भेद ज्ञात हो जाएगा। उन सिद्ध गायकों के कण्ठ से निकल रहा शब्द स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है जैसे कण्ठ से नहीं

कण्ठ के भीतर से निकल रहा है । वे शब्द कण्ठ में आने से पहले ही अपना रूप ग्रहण कर लेते हैं । इन स्थानों को शब्द शास्त्र ने वृत्ति का नाम दिया है । व्यक्त पांच स्थानों से भिन्न होते हैं ये स्थान जिनको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैरवरी वृत्ति का नाम दिया गया है। साधारण तौर पर अथवा सामान्य-सा प्रयत्न करने पर आदमी परावृत्ति तक रह पाता है, इससे अधिक प्रयत्न करने पर पश्यन्ती पर जाता है । सिद्ध गायक मध्यमा पर पहुंचता है और वैरवरी वृत्ति योग साधना करने पर अथवा सावधान प्रयत्नों के फलस्वरूप गायक को भी सिद्ध हो जाती है। जिसका स्वर वैरवरी वृत्ति से अनुप्राणित होता है या जिसके बोलने पर वैरवरी प्रकट होती है वह शब्द के सचेतन अस्तित्व को पा लेता है और उसका शब्द अत्यन्त प्रभावशाली बनकर ही निकलता है ।

शब्द शास्त्र की दृष्टि से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैरवरी वृत्ति का परिचय देने से मेरा तात्पर्य यह था कि आज का विज्ञानवादी और शब्द की सचेतनता की अपेक्षा उसके कर्णगत रूप (आडिबल साउण्ड) में अधिक विश्वास करने वाला भौतिक-विज्ञानवादी इस तथ्य का परिचय प्राप्त कर ले कि उस अप्रतिम शक्ति का, शब्द का मूल उद्गम कहीं गहरे में है और विभिन्न अक्षरों के मूल को गुदा मूल से लेकर उर्ध्व शरीर तक विभाजित करने वाला योग शास्त्र सत्य भी है और साथ ही व्यावहारिक भी ।

आज गीत लहरियों के कारण पौधे अधिक बढ़ते हैं, गायें अधिक दूध देने लगती हैं इत्यादि निष्कर्ष शब्द के सामान्य प्रतिफलन हैं अन्यथा अतीन्द्रिय प्रभाव और अभौतिक परिणाम अत्यन्त आश्चर्यकारी हैं जिन पर शायद आज का विज्ञान विश्वास ही नहीं कर पाए। मल्हार से मेघों का आना, दीपक से दीपकों का जलना कोई कल्पना का वैभव नहीं है जिसने थोड़ा भी परिचय प्राप्त किया है, शब्द की विश्वास के साथ साधना की है उसके लिए ये बातें सहज ही अनुमान करने योग्य हैं। मैंने एक अंग्रेजी पुस्तक में पढ़ा था जिसमें किसी विदेशी ने प्रयोग किया था, जिसका सार यह था कि यदि किसी तश्तरी में भुरभुरी रेत को रख दिया जाए और साठ का कोण बनाते हुए कोई वाद्य यन्त्र रख दिया जाए (रेडियो या ग्रामोफोन जैसा) वाद्य यन्त्र में से किसी भारतीय राग की स्वर लहरियों

को छोड़ा जाए तो थोड़े समय में उस कम्पन के कारण तश्तरी में आकृति उभरने लगेगी। संगीत की लहरी के कम्पन ने स्वत: उस भुरभुरी रेत में एक व्यवस्थित प्रकार का रेखा-जाल बन जाएगा। उन आकृतियों के चित्रों को देखकर अत्यन्त आश्चर्य होगा क्योंकि वे आकृतियां वैसी ही रेखाएं हैं जिनसे राग-रागिनियों के स्वरूप निर्धारित होते हैं अथवा जो हमारे मंत्र-शास्त्र के अधिष्ठाता देवताओं के स्वरूप हैं। उदाहरण के लिए—चतुर्भुज, अष्टभुजा आदि रूप में स्वस्तिक और षट्कोण जैसे तान्त्रिक आकारों में, भारतीय राग शास्त्र के लाक्षणिक ग्रन्थों में मैंने इन रागों के मानवीय चित्र देखे हैं। विदेशी के परीक्षण से प्राप्त आकृतियों में और भारतीय दिव्यचक्षुधर संगीताचार्यों द्वारा निर्मित चित्रों में मात्र इतना-सा अन्तर था कि वे रेखाएं थीं इनमें रंग और रेखाओं को सजीव मानवीय आकृति दे दी गई थी। हो सकता है (नहीं, है) भारतीय सचेतनावादी विज्ञान ने राग को सप्राण अनुभव किया था और उसे तूलिका से चित्रित कर दिया था अथवा शब्दों में चित्रित कर दिया था। यही एक कारण है कि भारतीय राग-रागिनियों का समय निर्धारित है और जिन विख्यात संगीतज्ञों ने राग-रागिनियों की साधना में वर्षों अथक प्रयास किया है उनको अपने साधना काल में विचित्र अनुभव हुए हैं किन्तु वे अनुभव उनके अपने हैं, उनकी निजी धरोहर हैं। न वे अनुभवों को प्रकट करेंगे, न जमाना उन पर यकीन ही करेगा। कुछ वर्षों पहले विख्यात शहनाई वादक बिस्मिल्ला खां ने इस तरह के अनुभवों का हल्का-सा परिचय धर्मयुग में दिया था। ये अनुभव भौतिक-विज्ञान की सीमा में नहीं आते क्योंकि वह श्रव्य ध्वनि पर परीक्षण कर रहा है, आडिबल साउण्ड की ही शक्ति को थाह रहा है। शब्द के भीतर छुपे चेतनावान् अंश को नहीं परख रहा है।

साहित्य की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना; शब्द शास्त्र की परा, पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी वृत्तियों—छन्द शास्त्र के गणों के स्वरूप के साथ ही संगीत शास्त्र के षड्ज, मध्यम, गान्धार, सप्त, मध्यम, धैवत और निषाद स्वरों का अपना महत्त्व होता है। ये स्वर मात्र संगीत में, मानव के कण्ठ से उच्चरित ध्वनि रहित केवल वाद्य यन्त्रों में ही महत्त्वपूर्ण नहीं होते इनका महत्त्व मानवीय स्वरों में भी अक्षत है। संगीत शास्त्र के मृदु और

कण्ठ के भीतर से निकल रहा है । वे शब्द कण्ठ में आने से पहले ही अपना रूप ग्रहण कर लेते हैं । इन स्थानों को शब्द शास्त्र ने वृत्ति का नाम दिया है । व्यक्त पांच स्थानों से भिन्न होते हैं ये स्थान जिनको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैरवरी वृत्ति का नाम दिया गया है । साधारण तौर पर अथवा सामान्य-सा प्रयत्न करने पर आदमी परावृत्ति तक रह पाता है, इससे अधिक प्रयत्न करने पर पश्यन्ती पर जाता है । सिद्ध गायक मध्यमा पर पहुंचता है और वैरवरी वृत्ति योग साधना करने पर अथवा सावधान प्रयत्नों के फलस्वरूप गायक को भी सिद्ध हो जाती है । जिसका स्वर वैरवरी वृत्ति से अनुप्राणित होता है या जिसके बोलने पर वैरवरी प्रकट होती है वह शब्द के सचेतन अस्तित्व को पा लेता है और उसका शब्द अत्यन्त प्रभावशाली बनकर ही निकलता है ।

शब्द शास्त्र की दृष्टि से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैरवरी वृत्ति का परिचय देने से मेरा तात्पर्य यह था कि आज का विज्ञानवादी और शब्द की सचेतनता की अपेक्षा उसके कर्णगत रूप (आडिबल साउण्ड) में अधिक विश्वास करने वाला भौतिक-विज्ञानवादी इस तथ्य का परिचय प्राप्त कर ले कि उस अप्रतिम शक्ति का, शब्द का मूल उद्‌गम कहीं गहरे में है और विभिन्न अक्षरों के मूल को गुदा मूल से लेकर उर्ध्व शरीर तक विभाजित करने वाला योग शास्त्र सत्य भी है और साथ ही व्यावहारिक भी ।

आज गीत लहरियों के कारण पौधे अधिक बढ़ते हैं, गायें अधिक दूध देने लगती हैं इत्यादि निष्कर्ष शब्द के सामान्य प्रतिफलन हैं अन्यथा अतीन्द्रिय प्रभाव और अभौतिक परिणाम अत्यन्त आश्चर्यकारी हैं जिन पर शायद आज का विज्ञान विश्वास ही नहीं कर पाए । मल्हार से मेघों का आना, दीपक से दीपकों का जलना कोई कल्पना का वैभव नहीं है जिसने थोड़ा भी परिचय प्राप्त किया है, शब्द की विश्वास के साथ साधना की है उसके लिए ये बातें सहज हो अनुमान करने योग्य हैं । मैंने एक अंग्रेजी पुस्तक में पढ़ा था जिसमें किसी विदेशी ने प्रयोग किया था, जिसका सार यह था कि यदि किसी तश्तरी में भुरभुरी रेत को रख दिया जाए और साठ का कोण बनाते हुए कोई वाद्य यन्त्र रख दिया जाए (रेडियो या ग्रामोफोन जैसा) वाद्य यन्त्र में से किसी भारतीय राग की स्वर लहरियों

को छोड़ा जाए तो थोड़े समय में उस कम्पन के कारण तश्तरी में आकृति उभरने लगेगी। संगीत की लहरी के कम्पन ने स्वत: उस भुरभुरी रेत में एक व्यवस्थित प्रकार का रेखा-जाल बन जाएगा। उन आकृतियों के चित्रों को देखकर अत्यन्त आश्चर्य होगा क्योंकि वे आकृतियां वैसी ही रेखाएं हैं जिनसे राग-रागिनियों के स्वरूप निर्धारित होते हैं अथवा जो हमारे मंत्र-शास्त्र के अधिष्ठाता देवताओं के स्वरूप हैं। उदाहरण के लिए—चतुर्भुज, अष्टभुजा आदि रूप में स्वस्तिक और षट्कोण जैसे तान्त्रिक आकारों में, भारतीय राग शास्त्र के लाक्षणिक ग्रन्थों में मैंने इन रागों के मानवीय चित्र देखे हैं। विदेशी के परीक्षण से प्राप्त आकृतियों में और भारतीय दिव्यचक्षुधर संगीताचार्यों द्वारा निर्मित चित्रों में मात्र इतना-सा अन्तर था कि वे रेखाएं थीं इनमें रंग और रेखाओं को सजीव मानवीय आकृति दे दी गई थी। हो सकता है (नहीं, है) भारतीय सचेतनावादी विज्ञान ने राग को सप्राण अनुभव किया था और उसे तूलिका से चित्रित कर दिया था अथवा शब्दों में चित्रित कर दिया था। यही एक कारण है कि भारतीय राग-रागिनियों का समय निर्धारित है और जिन विख्यात संगीतज्ञों ने राग-रागिनियों की साधना में वर्षों अथक प्रयास किया है उनको अपने साधना काल में विचित्र अनुभव हुए हैं किन्तु वे अनुभव उनके अपने हैं, उनकी निजी धरोहर हैं। न वे अनुभवों को प्रकट करेंगे, न जमाना उन पर यकीन ही करेगा। कुछ वर्षों पहले विख्यात शहनाई वादक बिस्मिल्ला खां ने इस तरह के अनुभवों का हल्का-सा परिचय धर्मयुग में दिया था। ये अनुभव भौतिक-विज्ञान की सीमा में नहीं आते क्योंकि वह श्रव्य ध्वनि पर परीक्षण कर रहा है, आडिबल साउण्ड की ही शक्ति को थाह रहा है। शब्द के भीतर छुपे चेतनावान् अंश को नहीं परख रहा है।

साहित्य की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना; शब्द शास्त्र की परा, पश्यन्ती मध्यमा, वैखरी वृत्तियों—छन्द शास्त्र के गणों के स्वरूप के साथ ही संगीत शास्त्र के षड्ज, मध्यम, गान्धार, सप्त, मध्यम, धैवत और निषाद स्वरों का अपना महत्त्व होता है। ये स्वर मात्र संगीत में, मानव के कण्ठ से उच्चरित ध्वनि रहित केवल वाद्य यन्त्रों में ही महत्त्वपूर्ण नहीं होते इनका महत्त्व मानवीय स्वरों में भी अक्षत है। संगीत शास्त्र के मृदु और

कठोर वर्ण एवं उनका द्रुत और विलम्बित प्रयोग मन्त्रों के क्षेत्र में भी आदरणीय रहा है। वेद मंत्र जिनका आज के युग में उपयोग निषिद्ध है वे उच्चारण में मध्यमा वैरवरी आदि वृत्तियों के विषय भी हैं तो द्रुत और विलम्बित-पद्धति के भी विषय हैं। इस युग में वेद मंत्रों का निषेध करने के पीछे एकमेव कारण यह है कि आज का व्यक्ति नितान्त व्यावहारिक अतएव इन्द्रियों की सीमा में विश्वास करने वाला रह गया है। इस बाह्यपरक जीवन से उसकी अन्तश्चेतना बहिर्मुख बनकर रह गई है और इसका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के शरीर तन्त्र पर पड़ रहा है इस प्रभाव के कारण वेद मंत्रों की शक्ति अविश्वसनीय बन गई है। समय के पार देखने वाले ऋषियों ने मानव के मानस पर पड़ने वाले प्रभावों को वर्षों पहले ही देख-अनुभव कर लिया था। इस क्रमिक ह्रास से परिचित ऋषियों ने वेदमंत्रों के सत्य को ममयानुकूल बनाने के लिए तन्त्र शास्त्र का विस्तार किया और मंत्र वैदिक स्तर से उतरकर तन्त्रों के स्तर पर आ गये पर इससे भी उन मंत्रों का मूल सूत्र न उपेक्षित हुआ, न उसकी गुणात्मकता में ही कोई कमी आई।

वास्तव में आज का विज्ञान मंत्र के बाह्य स्वरूप पर अश्रद्धा करना छोड़कर उसके मात्र बाह्य आकर; शब्द (स्वरूप) शरीर पर और ध्वनि-गत आकार पर परीक्षण करने के साथ-साथ उसकी प्रतीकात्मकता पर और प्राणवत्ता पर भी श्रद्धा करके ज्ञात आधारों के सहारे अज्ञात रहस्यों की पर्त उघारे तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। हमारी आंखें जिस रूप में प्रकाश का प्रतिनिधित्व करती हैं, कान आकाश का प्रतीक हैं, त्वचा वायु का प्रतिनिधित्व करती है। उस प्रतीक-प्रतिनिधित्व की सचेतन अर्थवत्ता भी है जिसका आशय होता है—व्यक्ति का क्षुद्र अस्तित्व विराट् से जुड़ा हुआ है। परम शक्ति का प्रतिनिधित्व उनके पांच फुट के शरीर में भी है। सामान्य-सी दिखने वाली इन्द्रियां व्यक्ति के लिए सेतु बन्ध का काम करती हैं जिससे विशाल नदी के यह और वह तट मिलते हैं।

शब्द की चमत्कारिता और प्रभुता का दूसरा दर्शन ज्योतिष शास्त्र में होता है। कुछ वर्ष पूर्व रूस के वैज्ञानिकों ने अनुभव-परीक्षण द्वारा प्रति-पादित किया था कि सूर्य में विस्फोट जैसे परिवर्तन होने से मानव के मन-

मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। इस समय में दुर्घटनायें, आत्मघात, उन्माद जैसी स्थितियां व्यापक रूप से होती हैं। सूर्य के अलावा इतर ग्रहों की आन्तरिक स्थितियों में परिवर्तन होने का प्रभाव भी दूसरे पिण्डों पर और मानव जीवन पर पड़ता है जिसका विस्तृत अध्ययन करने का फल है ज्योतिष का गणित और फलित स्तम्भ। होता यह है कि इस संसार के समस्त पिण्ड चुम्बकीय शक्ति से एक-दूसरे से अनुस्यूत है और इनकी स्वयं रश्मियां और प्रतिफलन से उत्पन्न रश्मियां ग्रहान्तरों के जीवन-संरचना को प्रभावित करती हैं। सूर्य के उपद्रवों का चुम्बकीय प्रभाव हमारे चुम्बकीय विद्युत् संस्थान को अवएव मन को प्रभावित करता है। ग्रहान्तरों से आने वाले रश्मिजाल का प्रभाव हमारे विद्युत् शरीर पर पड़ता है इसलिए घार्षणिक शक्ति का केन्द्र शरीर पर क्षीण अथवा क्षमतावान् होता है। ग्रहों के विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों एवं प्रभावों का विशद विवेचन ज्योतिष ने किया है।

इन बाह्य अन्तरिक्ष में गतिशील ग्रहों के प्रभाव से अप्रभावित रखने के लिए ऋषियों ने मंत्र शास्त्र की छतरी आदमी के हाथ में उसी तरह पकड़ा दी है जिस तरह आज के विकसित राष्ट्र अणु छतरी का आधार गढ़ चुके हैं। ग्रहों के दुष्प्रभाव को रोकने के लिए गठित मंत्रों का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन रोचक एवं ज्ञानवर्धक है। ग्रह पीड़ा को शान्त करने वाली शब्दावली हमारे शरीर में चुम्बकीय तथा विकिरण सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को रोकने के लिए निरोधकारिणी उर्जा उत्पन्न करती है और उस विधि से बाह्य परिवर्तनों से हमारी रक्षा हो जाती है।

शब्द के गठन पर विचार करने के पश्चात् तथा शरीर में निहित वैद्युतिक एवं मानसिक शरीर का परिचय प्राप्त करनें के अनन्तर उस शब्द किंवा ध्वनि की कार्यविधि का परिचय प्राप्त कर लेना सुविधाजनक रहेगा। भौतिक-विज्ञान यह मानता है कि शब्द अनुदैर्ध्य तंरगों में गमन करता है। ध्वनि चाहे व्यक्ति की श्रवणशक्ति की रेंज-परिसीमा में है या उससे न्यूनाधिक वह सर्प की गति की भांति वर्तुलाकार पथ में गमन करती है। ध्वनि उत्पन्न होने पर ईथर में कम्पन होता है और वह ध्वनि कम्पन के कारण तरंगों में परिवर्तित होकर वातावरण में व्याप्त हो जाती हैं जैसे

किसी सरोवर में कंकड़ डालने पर चारों ओर (उस स्थान पर जहां कंकड़ डाला गया था) तरंगें उठती हैं और गतिशील हो जाती हैं। ठीक ऐसा ही ध्वनि का स्वरूप और स्वभाव है। वह भी अनुदैर्ध्य तरंगों के रूप में वातावरण में इतस्तत: प्रसरित हो जाती है। इसके सामानन्तर विद्युत भी तरंगों में गमन करती है किन्तु विद्युत गति अवरोधपूर्वक होती है अर्थात् रेजिस्टैंस युक्त होकर विद्युत का प्रवाह प्रसारित होता है। हमारे शब्द की लहरों को व्यक्ति विशेष अथवा दिशा विशेष के प्रति प्रेषित करना मानसिक चुम्बकीय विद्युत का कार्य होता है। मन की यह चुम्बकीय प्रभावशीलता आस्था, विश्वास, संकल्प, इच्छा शक्ति आदि विविध नामों से कही-जानी जाती है। शब्द के साथ जुड़ी हुई मन की भावना और शब्दावली का अर्थ जब ध्वनि (चाहे वह आडिबल है या मानसिक प्रतीति मात्र है) के साथ एकाकार हो जाता है तो उसका प्रत्यक्ष चमत्कार दिखने लगता है।

शब्द के गमन की दो स्थितियां होती हैं, पहली अनुदैर्ध्य तरंगों के रूप और दूसरी अनुप्रस्थ तरंगों के रूप में। किसी तालाब में पत्थर डालने [illegible]र चक्राकार तरंगें उठने और दिशा विशेष में तरंगों को गतिशील करने [illegible]की विधियां आज भौतिक-विज्ञान ने जान ली हैं। सामाजिक शान्ति के लिए किए जाने वाले प्रयोगों में शब्द लहरियां उसी वर्तुलाकार रूप में गमन करती हैं उद्देश्य विशेष में उनकी गति अनुदैर्ध्य तरंगों का रूप ग्रहण कर लेती है। ये स्वर लहरियां ताप की गति के अनुसार एक-दूसरे से संक्रमण नहीं करतीं बल्कि वर्तुल रेखाओं के रूप में सूक्ष्मतम माध्यम से गमन कर सकती हैं। इन तरंगों का माध्यम कोई भी हो निश्चित स्थान पर पहुंच कर ये कार्य रूप में व्यक्त होती हैं।

शब्द की ～～～ इस रूप में गमन करने वाली तरंगें जब ～～～ इस रूप में गमन करने वाली बिजली की तरंगों के साथ गमन करती हैं तो एक-रूप हो जाती हैं। बिजली की शक्ति से छोड़ी जाने वाली तरंगों के रूप में शब्दावली या स्वर लहरी के लिए सारा संसार हाथ में रखे आमले की तरह सरलतापूर्वक जानने योग्य बन जाता है। बिजली शक्ति के कारण ही वायरलैस उपयोगी बना हुआ है वरना शब्द ध्वनि का रूप ग्रहण करते ही अधर में टंग जाता।

आज भी अनन्त अन्तरिक्ष में नाना प्रकार की ध्वनियां इकट्ठी हैं और होती रहेंगी। वैज्ञानिक आकाश में फैली इन ध्वनियों को पकड़ करके विलुप्त इतिहास को प्रमाणयुक्त करके प्रस्तुत करना चाहते हैं। सुनने में आया था कि जर्मनी के वैज्ञानिकों ने आकाश में व्याप्त इन ध्वनियों को ग्रहण करने की कोशिश की थी किन्तु वे क्रमबद्ध नहीं थी। इस परीक्षण का कोई आधार रहा था या नहीं रहा था—इतना तो माना ही जा सकता है कि जब ध्वनि नष्ट नहीं होती तो उसे असल रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

मंत्र की ध्वनि के पीछे भी विद्युत शक्ति रहती है, उस शब्दावली के साथ चेतना वाले व्यक्ति की भावना का प्रवाह जुड़ा रहता है। इसलिए मंत्र के ध्वनिरत रूप को शक्ति से गुणित होने का सूत्र सिद्ध हो जाता है। जहां शक्ति है वहां क्रियात्मक रूप मिलने में विलंब नहीं होता। मंत्र का ध्वनि पक्ष भी इस रूप में गढ़ा गया है कि वह इस विशाल संसार के स्थूल पदार्थों के साथ प्रभावशाली रूप से जुड़ा है। बिना शक्ति के मंत्र तो दूर की बात है भाषा के सामान्य शब्द ही अपना प्रभाव छोड बैठते हैं।

अभ्यास यह सिद्ध कर देता कि कालान्तर में ध्वनि की वर्तुल एवं अनुदैर्ध्य तरंगों के स्थान को मानसिक भावना की विद्युत पूर्ण कर देती है और मंत्र कार्यक्षम हो जाता है। यद्यपि मंत्र के साथ स्फोट अथवा ध्वनि के रूप में शब्द जुड़ा है तथा साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शब्द के साथ शब्द के अर्थ को, प्रतीक को, पूरी निष्ठा के साथ विचारगत रखेगा फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह दुष्कर है। हमारी इन्द्रियों का और इन्द्रियों के अधिष्ठाता मन का यह स्वभाव है कि किसी भी वस्तु के अभ्यास होने पर उसका बोध क्षीण हो जाता है। इन्द्रियां उसको अभ्यास बोध के कारण स्वभाव मान लेती हैं, उससे उत्तेजना और प्रेरणा नहीं मिल पाती। कोई व्यक्ति सिगरेट पीने का आदि हो जाता है तो उसे सिगरेट की गन्ध का अनुभव नहीं होता है। नासिक के लिए वह गन्ध इतनी परिचित हो जाती है कि न उसका बोध होता है, न उससे कोई उत्तेजना होती है। इन्द्रियां आज्ञाकारी दास की भांति उस अभ्यास को सम्पूर्ण करती रहती हैं। यह यान्त्रिक क्रिया कभी-कभी बड़ी नीरस लगने लगती है। नीरस

किसी सरोवर में कंकड़ डालने पर चारों ओर (उस स्थान पर जहां कंकड़ डाला गया था) तरंगें उठती हैं और गतिशील हो जाती हैं। ठीक ऐसा ही ध्वनि का स्वरूप और स्वभाव है। वह भी अनुदैर्ध्य तरंगों के रूप में वातावरण में इतस्तत: प्रसरित हो जाती है। इसके सामानन्तर विद्युत भी तरंगों में गमन करती है किन्तु विद्युत गति अवरोधपूर्वक होती है अर्थात् रेजिस्टेंस युक्त होकर विद्युत का प्रवाह प्रसारित होता है। हमारे शब्द की लहरों को व्यक्ति विशेष अथवा दिशा विशेष के प्रति प्रेषित करना मानसिक चुम्बकीय विद्युत का कार्य होता है। मन की यह चुम्बकीय प्रभावशीलता आस्था, विश्वास, संकल्प, इच्छा शक्ति आदि विविध नामों से कही-जानी जाती है। शब्द के साथ जुड़ी हुई मन की भावना और शब्दावली का अर्थ जब ध्वनि (चाहे वह आडिबल है या मानसिक प्रतीति मात्र है) के साथ एकाकार हो जाता है तो उसका प्रत्यक्ष चमत्कार दिखने लगता है।

शब्द के गमन की दो स्थितियां होती हैं, पहली अनुदैर्ध्य तरंगों के रूप में और दूसरी अनुप्रस्थ तरंगों के रूप में। किसी तालाब में पत्थर डालने पर चक्राकार तरंगें उठने और दिशा विशेष में तरंगों को गतिशील करने की विधियां आज भौतिक-विज्ञान ने जान ली हैं। सामाजिक शान्ति के लिए किए जाने वाले प्रयोगों में शब्द लहरियां उसी वर्तुलाकार रूप में गमन करती हैं उद्देश्य विशेष में उनकी गति अनुदैर्ध्य तरंगों का रूप ग्रहण कर लेती है। ये स्वर लहरियां ताप की गति के अनुसार एक-दूसरे से संक्रमण नहीं करतीं बल्कि वर्तुल रेखाओं के रूप में सूक्ष्मतम माध्यम से गमन कर सकती हैं। इन तरंगों का माध्यम कोई भी हो निश्चित स्थान पर पहुंच कर ये कार्य रूप में व्यक्त होती हैं।

शब्द की ~~~~~इस रूप में गमन करने वाली तरंगें जब ~~~~~ इस रूप में गमन करने वाली बिजली की तरंगों के साथ गमन करती हैं तो एक-रूप हो जाती हैं। बिजली की शक्ति से छोड़ी जाने वाली तरंगों के रूप में शब्दावली या स्वर लहरी के लिए सारा संसार हाथ में रखे आमले की तरह सरलतापूर्वक जानने योग्य बन जाता है। बिजली शक्ति के कारण ही वायरलैस उपयोगी बना हुआ है वरना शब्द ध्वनि का रूप ग्रहण करते ही अधर में टंग जाता।

आज भी अनन्त अन्तरिक्ष में नाना प्रकार की ध्वनियां इकट्ठी हैं और होती रहेंगी। वैज्ञानिक आकाश में फैली इन ध्वनियों को पकड़ करके विलुप्त इतिहास को प्रमाणयुक्त करके प्रस्तुत करना चाहते हैं। सुनने में आया था कि जर्मनी के वैज्ञानिकों ने आकाश में व्याप्त इन ध्वनियों को ग्रहण करने की कोशिश की थी किन्तु वे क्रमबद्ध नहीं थी। इस परीक्षण का कोई आधार रहा था या नहीं रहा था—इतना तो माना ही जा सकता है कि जब ध्वनि नष्ट नहीं होती तो उसे असल रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

मंत्र की ध्वनि के पीछे भी विद्युत शक्ति रहती है, उस शब्दावली के साथ चेतना वाले व्यक्ति की भावना का प्रवाह जुड़ा रहता है। इसलिए मंत्र के ध्वनिरत रूप को शक्ति से गुणित होने का सूत्र सिद्ध हो जाता है। जहां शक्ति है वहां क्रियात्मक रूप मिलने में विलंब नहीं होता। मंत्र का ध्वनि पक्ष भी इस रूप में गढ़ा गया है कि वह इस विशाल संसार के स्थूल पदार्थों के साथ प्रभावशाली रूप से जुड़ा है। बिना शक्ति के मंत्र तो दूर की बात है भाषा के सामान्य शब्द ही अपना प्रभाव छोड बैठते हैं।

अभ्यास यह सिद्ध कर देता कि कालान्तर में ध्वनि की वर्तुल एवं अनुदैर्ध्य तरंगों के स्थान को मानसिक भावना की विद्युत पूर्ण कर देती है और मंत्र कार्यक्षम हो जाता है। यद्यपि मंत्र के साथ स्फोट अथवा ध्वनि के रूप में शब्द जुड़ा है तथा साधक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शब्द के साथ शब्द के अर्थ को, प्रतीक को, पूरी निष्ठा के साथ विचारगत रखेगा फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से यह दुष्कर है। हमारी इन्द्रियों का और इन्द्रियों के अधिष्ठाता मन का यह स्वभाव है कि किसी भी वस्तु के अभ्यास होने पर उसका बोध क्षीण हो जाता है। इन्द्रियां उसको अभ्यास बोध के कारण स्वभाव मान लेती हैं, उससे उत्तेजना और प्रेरणा नहीं मिल पाती। कोई व्यक्ति सिगरेट पीने का आदि हो जाता है तो उसे सिगरेट की गन्ध का अनुभव नहीं होता है। नासिक के लिए वह गन्ध इतनी परिचित हो जाती है कि न उसका बोध होता है, न उससे कोई उत्तेजना होती है। इन्द्रियां आज्ञाकारी दास की भांति उस अभ्यास को सम्पूर्ण करती रहती हैं। यह यान्त्रिक क्रिया कभी-कभी बड़ी नीरस लगने लगती है। नीरस

लगने का कारण यह भी होता है कि शरीर उस अभ्यास में नियुक्त हो जाता है और दूसरे दोनों शरीर अपने-अपने काम में लगे रहते हैं। इस बिन्दु पर साधक को साधना निष्प्राण लगने लगती है, शब्द मात्र इन्द्रियों की निष्प्राण यान्त्रिक क्रिया बन जाता है। मन जब वाग् इन्द्रिय को मंत्र की शब्दावली सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है तो साधना से विमुखता आ जाती है। साधक मन की सूक्ष्मता का और चंचलता का परिचय प्राप्त करता है। प्रतिक्षण मन को मन की भावना के साथ जोड़ने की चेष्टा करता है और मन हाथ से निकलता-सा लगता है।

साधना का यह स्थल ऊहापोह का होता है। शरीर और मन दोनों की भिन्न-भिन्न स्थितियां स्पष्ट हो जाती हैं पर यह बिन्दु सांसारिक विचारधारा में उलझे-फंसे आदमियों के लिए आवश्यक होकर भी चिन्ता ा नहीं होता। यह विरुचि ज्वार का परावर्तित रूप है और सागर में ज्वार ो आता है तो भाटा भी। दरअसल ज्वार भी सागर है तो भाटा भी ागर का ही रूप-प्रकृति है। मन के मंत्र से सम्पृक्त होने तथा वियुक्त होने से सिद्धि की अथवा मंत्र की शक्ति उग्र या क्षीण नहीं हुआ करती। यह प्रक्रिया प्राणवान् शब्द को स्थूल जगत् से ऊपर उठाकर व्यक्ति की नियामक शक्ति से जोड़ने की साधना है। शब्द की स्थूल शक्ति में प्राण प्रतिष्ठा करके उसे जागृत करने का मानसिक प्रकार है। साधना के क्रम में व्यक्ति कई प्रकार के अनुभवों में से गुजरता है। मंत्र को सप्राण करने की चेष्टा में साधक को कई प्रकार की प्रतीतियां होती हैं। ये सारी प्रतीतियां व्यक्ति की स्वकल्पित ही नहीं होतीं कई-कई अणु के मंत्र से एक रूप होने की प्रासंगिक घटना होती हैं।

यद्यपि आडिबल साउण्ड मंत्र शास्त्र की दृष्टि से तीसरी श्रेणी की शक्ति होती है और अधुनातन विज्ञान भी उसे कोई महत्त्व नहीं देता पर भावना मूलक मानसिक विद्युत के तथा ध्वनिपरक शारीरिक, घार्षणिक विद्युत के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। शब्द का स्फोट, शब्द की लय और शब्द की अर्थवत्ता भी अपने स्थान पर पूर्ण शक्ति सम्पन्न एवं सार्थक तत्त्व हैं इनके प्रभाव से अस्वीकार भी किसी को नहीं हो सकता। मन शब्द के साथ, शब्द की प्रतीति के साथ जुड़ता है तो सिद्धि की अलौकिक

अनुभूति भी व्यक्ति को निहाल करती रहती है।

यथार्थ में मंत्र में किंवा शब्द में दो स्वरूप, दो शरीर, दो गुण होते हैं। मंत्र की प्रतीकता, शब्द की प्रतीक बोधकता बुद्धि का विषय होता है और उसकी लय हमारे शरीर अथवा बाह्य जगत् में उत्तेजना लाती है। इस तथ्य को हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। मान लीजिए हम स्टेज पर एक नाटक देख रहे हैं जो किसी अफ्रीकी देश के वातावरण में लिखा गया है। अफ्रीका देश का वातावरण हमारे लिए अनुभवगम्य नहीं है इसलिए हम उसकी यथार्थ कल्पना नहीं कर पाते। पर उसकी भाषा हमारी भाषा है अर्थात् उस नाटक का हिन्दी में रूपान्तरित करके हमारे सामने पेश किया जा रहा है। भारतीय दर्शक की बुद्धि प्रतीकों का सामञ्जस्य कर देगी, कथा के सूत्र को जोड़े रहेगी पर उसके प्रभावों को प्रकट करना प्रतीकों की अर्थबोधक शक्ति से परे की बात है। हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है। हम हर्ष, शोक की अनुभूति करते हैं उसकी लय के कारण। लय की यह प्रभावशीलता भाषा के शब्दों से रहित केवल यन्त्रों की ध्वनि से भी प्रतीत होती है। युद्ध के लिए प्रमाण करते समय अथवा किसी की शव-यात्रा के समय किसी भी देश का, कोई भी यन्त्र बज रहा हो उसकी लय विश्व जनीन सत्य है, लय का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय समानता है। यदि कोई लय सामयिक, किंवा जिस अवसर को ध्वनि के सहारे व्यक्त करने में समर्थ नहीं है तो इसका कारण यही हो सकता है कि उस लय की आत्मा को नहीं टटोला गया है। शव-यात्रा के समय बजाये जाने वाले वाद्य यन्त्रों की लय यदि विवाह के अवसर जैसा अनुभव कराती है तो यह उस लय के आविष्कर्त्ता की कमी है। लय के सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सत्य से किसी को मतभेद नहीं हो सकता।

एक पुस्तक का दूसरी भाषा में अनुवाद करने पर कई बार अनुवाद मूल पुस्तक से श्रेष्ठ बन पड़ता है तो कई बार उससे कम हो जाता है। यह मानने लायक तथ्य है कि देशीय अनुभव से उत्पन्न प्रतिनिधि शब्दों की अर्थगत एकरूपता वाले शब्द दूसरी भाषाओं में मिलना संभव नहीं होता। पर उन प्रतीकों को यथावस्तु अथवा तत्सम रूपों में व्यक्त करने की क्षमता हरेक भाषा में होती है। इस क्षमता के बावजूद भी अनुवाद का श्रेष्ठतर

होने अथवा न्यूनतर होने का कारण यही है कि अनुवाद के लिए जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया था। उसकी लय में प्रभावशाली उत्तेजक शक्ति का समावेश नहीं हो पाया। शब्द के साथ लय अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है। इस लय का व्याघात वर्ण का रूप ग्रहण करने पर भी नहीं होता। अर्थात् केवल कानों से सुनने पर ही उत्तेजना नहीं होती। मुद्रित पुस्तकों के एकान्तिक पठन से भी व्यक्ति प्रभावित होता है क्योंकि उस भाषा के साथ शब्द जुड़े हुए हैं और शब्दों के साथ उनकी लय जुड़ी रहती है। भाषा के गठन में, तत्त्व जगत् के गुण, परिणाम, आकार, आयामों का दृष्टिकोण मूलरूप में रहा था पर उनको व्यक्ति की उत्तेजक शक्ति का उद्दीपन करने के लिए लय का रूप ग्रहण करना ही पड़ा। बिना लय के शब्द ब्रह्म की आकार-प्रकार मय अभिव्यक्ति-अनुभूति हो ही नहीं सकती।

लय बोध भाषा का प्राण है। श्रेष्ठ लेखक तत्सम शब्दावली में लिखें या हिन्दुस्तानी में अथवा अंग्रेजी बहुत भाषा में, पाठक उससे प्रभावित होता ही है। पण्डितों की भाषा ही प्रभावशाली होती हो—यह कोई अनुबन्ध नहीं होता। वास्तविक रहस्य है अनुकूल लय वाली शब्दावली। सिद्ध लेखक के मुख से या कलम से जो भी कुछ व्यक्त होगा वह उसकी निजी शैली होगा और इस शैली का प्राण होगी व्यक्ति की मानसिक जागरूकता जो बुद्धि के सहारे शब्द प्रतीकों को जोड़ती हुई इस प्रकार के वाक्यों, अनुच्छेदों का सृजन करेगी जिसमें पूर्ण प्रभावशालिता होगी। समर्थ रचनाकार की भाषा पूर्वाग्रह से मुक्त होकर भी और मुक्त रहकर भी लय की सार्थकता को थामें रहेगी। यह सूक्ष्म प्रक्रिया होती है जिसे शायद लेखक जानता है और अनुभव करता है अथवा जानता नहीं है पर अनुभव करता है।

मैं सिद्धान्ततः मंत्र के साथ मन की एकाग्रता या मंत्रनिष्ठता को स्वीकार करता हूं, विश्वास को मंत्र की शर्त मानता हूं पर विश्वास ही सब कुछ होता है इस बात को व्यावहारिक आधार पर मानने के लिए प्रतिबद्ध नहीं हूं।

मंत्र के जप में देह, पुद्गल व मानस तीनों एक रेखावस्थित रहें—यह शुभ लक्षण है, शीघ्र सिद्धि कर है पर बलवान् पुरुषार्थ से भाग्य को पराजित होते भी देखा है। कोई व्यक्ति मंत्र की साधना कर रहा है किन्तु

उसे मंत्र के प्रति उतनी आस्था नहीं है जितनी चाहिए (विरोध भावना से काम नहीं चलेगा)। ऐसी स्थिति में मंत्र का जप निष्फल चला जाएगा— यह बात व्यवहार सिद्ध नहीं है (शास्त्र सम्मत् भी नहीं है)।

अर्थ भावना छूट जाती है या छूटती रहती है तो भी कोई आपत्ति नहीं होती। शरीर के अवयव, स्फोट के स्थान मंत्र के अभ्यास में निरत रहते हैं तो मंत्र का साध्य व्यक्ति को मिलकर रहेगा। निरन्तर जप से मंत्र की लय, मंत्र की शब्दावली अपना काम करेगी। आज हम किसी मंत्र के जप का व्रत लेते है, निश्चित मात्रा में—नियमित समय पर उसका जप करते हैं तो यह मानने लायक बात है कि उस मंत्र की सिद्धि होकर रहेगी लेकिन इस प्रक्रिया में होगा यह कि मंत्र के जप से हमारा दैहिक अभ्यास वैद्युतिक शरीर को प्रभावित करेगा और फिर मानसिक शरीर को तदनुरूप बना डालेगा। व्यवहार एवं प्रयोग के आधार पर मुझे यह कहने में जरा भी दुविधा नहीं है कि मंत्र का जप व्यक्ति के मन को निर्मल करके रहेगा, मन की संवेदनशीलता को उग्र करके रहेगा। साधक का वैद्युतिक शरीर उसके नियम-नियन्त्रण में रहने योग्य बन जाएगा।

मंत्र के पुरश्चरण में व साधन में जपों की मात्रा निश्चित करने के पीछे भी यही सिद्धान्त रहा है। यथार्थ में जपों की संख्या मध्यमान है, अन्तिम सत्य नहीं। व्यक्ति के शरीर (देह, पुद्गल, मानस) तन्त्र की स्वच्छता, आहार-विहार का संयम, विचार-व्यवहार की उत्तमता तथा संस्कार आदि सहयोगी परिस्थितियां अनुकूल रहती हैं तो मंत्र की संख्या से कम जप से ही सिद्धि हो जाती है। व्यक्ति के तीनों देहों का सन्तुलन मंत्र के लिए सर्वाधिक अनुकूल स्थिति है। मात्र इच्छा शक्ति, शब्द, श्रद्धा जैसे तथ्य स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकते हैं किन्तु इनमें अन्य अंगों का सामर्थ्य लाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। केवल भावना से कार्य होता तो शब्द की आवश्यकता नहीं होती, तराजू और दो किलो का जप करने का विधान होता। मंत्र का सूत्र केवल भावना और विश्वास रहता, शब्दों का आधार आवश्यक नहीं होता पर ऐसा संभव नहीं था। शब्द और प्रतीक, भावना और प्रयत्न इनका संयोजन ही शीघ्रतम सिद्धिदाता हो सकता है, स्थायी समाधान हो सकता है। मंत्र के निरन्तर जप में शक्ति की प्रतिष्ठा की

जाती है। जप का अभ्यास होने पर वह ऐन्द्रिय व्यायाम हो जाता है, मन के लिए उसकी प्रतीक भावना और अर्थवत्ता क्षीण हो जाती है किन्तु उस ध्वनि के नैरन्तर्य के कारण व्यक्ति तन्मय हो जाता है। जिह्वा का अभ्यास मानसिक शरीर तक पहुंच जाता है। अतः यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि मंत्र के जप में प्रयुक्त ध्वनि की निश्चित आवृत्ति स्थूल जगत् के लिए नियामक शक्ति है। चीन की कहावत है—'झूठ को तब तक दोहराते रहो जब तक वह सत्य नहीं हो जाए।' उक्त कहावत में व्यवहार बल है, आवृत्ति के कारण स्थापित शक्ति है। मंत्र में स्वयं में भी सामर्थ्य होती है। यह किंवदन्ती सत्य हो या न हो, कि बाल्मीकि व्याध थे और मारा-मारा कहने से उनकी प्रतिभा का उन्मेष हो गया। इस किंवदन्ती का रहस्य यह अवश्य है कि भाषा की विशेष शब्दावली का विशेष प्रभाव होता है और उसके जप का परिणाम भी विशिष्ट ही निकलता है।

मंत्र का विज्ञान

विदेशों के यात्रा वृत्तान्त पढ़ने को मिलते हैं, वहां जाकर आने वाले लोग उनके वैभव और सिद्धियों का वर्णन करते हैं तो हम हतप्रभ रह जाते हैं। इस पर यदि वे कहें कि हम यान्त्रिक प्रगति में तीन सौ या पांच सौ वर्ष पिछड़े हुए हैं तो हमें रोना आने लगता है, एक हीनभाव हमें ग्रस्त कर लेता है। अमुक देश में ऐसी व्यवस्था है कि बेकार आदमी को डेढ़ हजार रुपया मासिक की वृत्ति दी जाती है और यदि वर्ष में तीन महीने नौकरी कर ली तो सालभर आराम से गुजारा कर सकते हैं। जिस कार का यहां दो लाख से पांच लाख तक मूल्य है ऐसी लाखों कारें वहां बेकार पड़ी हैं, उनको सुधराना मंहगा पड़ता है परिणामस्वरूप या तो वे समुद्र में फेंक दी जाती हैं या उनको पिचका कर फिर धातु रूप दे दिया जाता है। हम उनके वे वस्त्र पहनकर ही धन्य हो जाते हैं जो केवल धुलाई (मंहगी होने) के कारण बहुत सस्ते में फेंक दिए जाते हैं।

ऐसे एक नहीं अनेक विवरण सुनने को मिलते हैं और हमारा दैन्य त्रास दायक रूप में हमें कचोटने लगता है। हम वास्तव में अपनी और अपने देश की स्थिति पर विचार करने लगते हैं।

यह था चित्र का एक पहलू अब इसी चित्र का दूसरा पहलू देखते हैं। लन्दन के भूमिगत रेलवे स्टेशन या न्यूयार्क की व्यस्त सड़कों पर निरपेक्ष अथवा आत्मरत भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति घड़ी के पेंडुलम की तरह घूम रहा है—नितान्त जड़ और असंपृक्त। विशिष्टीकरण और वर्गीकरण की विवशता में फंसी सामाजिक व्यवस्था एक-दूसरे से जुड़ती तो है किन्तु बहुत दूर और बहुत गहरे जैसे आकाश में छितराई किसी महावृक्ष की विशाल शाखाएं अपने स्कन्ध मूल में ही जुड़ा करती हैं।

सम्पदा और यंत्रों के इस विस्तार में भी व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं है। उसी अधुनातन नगर में उपनगर बसा हुआ है जिसमें अनेकानेक जन तन्मय होकर 'हरे राम हरे कृष्णा' का संकीर्तन करते हैं, शिखा-सूत्र धारण करके शाकाहार करते हैं। इस वर्ग के सदाचार और कृच्छ साधना को देखकर भी हम चौंक जाते हैं लगता है—हमारा अतीत, हमारी उपनिषद् कालिक जीवन पद्धति, हमारा ऋषि व्यवहार फिर साकार होने लगा है। एक ही देश में, एक ही नगर में, एक ही समय ये दो भिन्न व्यवहार पनप रहे हैं।

हम चौराहे पर खड़े हो जाते हैं, इधर जाते हैं तो उधर का सम्मोहन खेंचता है उधर ही सोचते हैं तो इधर का आग्रह आड़े आ जाता है। इस प्रकार की दुविधा प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने आती है क्योंकि असत् के विस्तार से पीड़ित व्यक्ति सत् का संधान करने के लिए बाध्य होता है, प्रत्येक स्थिति अपने मूल 'स्व' रूप को पाने के लिए स्वभावतः प्रतिबद्ध है।

यही आकर हम सोचते हैं कि जीवन का प्रयोजन क्या है? यहीं इच्छा और आवश्यकता का भेद उजागर होता है। भौतिक विस्तार ने आवश्यकता को गौण करके इच्छा का पूजना करना प्रारंभ कर दिया और जहां आवश्यकता पूर्ण होने पर हम तृप्त होते वहां इच्छा की पूर्ति से तृप्त हो उठे और एक दर्प ने अनेक दर्प रूपों का मायावी संसार हमारे सामने उपस्थित कर दिया तथा उसके सहचर अन्य दर्प के सर्प भी आ जुटे। आवश्यकता प्रकृति है, प्रकृति का व्यवहार है और इच्छा विकृति। इच्छा को विकृति कहने के पीछे मेरा आशय है कि प्रकृति जब विस्तार प्राप्त

करती है तो उसे इच्छा ही प्रेरित करती है अथवा यह इच्छा ही प्रकृति को गति देती है। जो विकृति के चरम में जाकर परिणत होती है और रुद्र के तेजस में लीन हो जाती है। यद्यपि इच्छा को आवश्यकता से छिन्न नहीं किया जा सकता फिर भी इच्छा का अनर्गल विस्तार तर्जस बिन्दु पर पहुंचता है वह विकृति ही है।

इस कथन से अनेक प्रश्नों और तर्कों को अवकाश मिलता है किन्तु हम आग्रह मुक्त होकर इसका विश्लेषण करें तो यह विश्वास करना ही होगा कि इच्छा हमें अनावश्यक विस्तार और जटिलता से जोड़ती है। जो लोग इच्छाओं के स्वप्नमय संसार में सुखी हैं और इसकी स्पर्धा में आत्म-विस्मृत धावक की तरह दौड़ रहे हैं उनके लिए आध्यात्म या अभौतिक चिन्तन अर्थहीन है किन्तु जो अपनी आवश्यकता से पीड़ित हैं अथवा अधिकता से त्रस्त हैं उनके लिए यह चिन्तन आवश्यकता बन जाता है।

संसार में ये विरुद्ध विचार धाराएं नहीं होतीं तो समरसता हो जाती, गति में वेग नहीं आता। सरिता के मार्ग में अवरोध नहीं आता तो घुमाव नहीं होते और घुमाव नहीं होते तो उसके प्रवाह में वेग और बल नहीं होते। आर और वृत्त गति में सूचक भी होते हैं और उसे बल देने वाले भी जैसे सफेद और काले चित्र में दोनों रंग एक-दूसरे के पूरक और अभिव्यक्ति देने वाले होते हैं। ये परस्पर विरुद्ध वृत्तियां सनातन हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं अतएव संसार का चिह्न है। इस द्वैत ने ही अद्वैत का उद्घाटन किया है, इस गति से ही स्थिरता प्रतिष्ठित हुई है।

प्रत्येक आध्यात्मचेता मूल आवश्यकता पर केन्द्रित होने की साधना करता है और ये आवश्यकताएं भी आगे चलकर सिमटने लगती हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की चेतना का विकास होता है वह शक्ति के प्रखर अतएव नियामक स्तर पर पहुंचने लगता है। परिणामतः उसकी आवश्यकताएं भी मूलरूप में केन्द्रित होने लगती हैं।

इस प्रकार की साधना में व्यक्ति बाह्य संसार से छिटकता नहीं है प्रत्युत शक्ति की मूलधारा एवं प्रचंड स्वरूप से एकाकार हो जाता है इसलिए स्थूल एवं मनोलोक पर शासन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है जिन स्वनामधन्य ऋषियों ने मंत्र अथवा तंत्र का भौतिक फलित

बतलाया है वे व्यक्ति को तथा व्यक्तिगत शक्ति को एक निश्चित रूप देकर उसे दिशा विशेष में प्रक्षेपित करने की पद्धति से परिचित रहे हैं। ऐसा उपदेश करके भी ऋषियों ने मंत्र या तंत्र के आध्यामिक पक्ष को निर्बल नहीं होने दिया, शब्द को ब्रह्ममय मानकर उन्होंने ब्रह्म की उपासना का मार्ग बतलाया।

यहां हम ऋषियों के आध्यात्म चिन्तन और प्रकृति के क्रिया विस्तार का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहे हैं, इस निरीक्षण अथवा विवेचन का एक ही प्रयोजन है कि हमारे ऋषियों का विज्ञान बोध कितना सटीक और आधारवान् रहा था, इसके साथ ही हमारे वर्तमान की उपलब्धियां भी प्रकृति की इच्छा एवं व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर पा रही, नहीं कर सकती।

जो लोग यह आक्षेप लगाते हैं कि "हमने सूर्य और चन्द्र को, अग्नि और इन्द्र को देवता कहकर हमारी अल्पज्ञता और अन्धविश्वास की प्रतिष्ठा की है" वे भारतीय चिन्तन की विराट्ता, स्पष्टता और चेतन-वादिता को समझते ही नहीं हैं। यदि हम देव, दानव, भगवान, मानव आदि शब्दों के व्यावहारिक प्रतीकों से व तदाश्रित बोध से मुक्त होकर यह मान लें कि ये शब्द शक्ति के स्तर का मानक है तो कोई विरोध ही नहीं रहेगा। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हम यह समझ लें कि इतनी टी० एन० टी० शक्ति को देव और दानव कहेंगे तथा इतनी को भगवान कहेंगे तो आज के जड़ विज्ञान से भी हमारा सामंजस्य बैठ जाएगा। इसी स्तर को हमने देवता कहा है और देवत्व की हमने सीमा भी बना दी है। किन्तु इतने उज्ज्वल सम्बोधन देने के पीछे हमारी वही निरहंकारी सर्मपित भावना रही है, अज्ञता या अन्धता नहीं रही।

सूर्य तो हमारा रक्षक है, इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र और शक्ति के प्रखर रूप का भास्वर प्रतीक। हमने सूर्य को देवता मानकर कृतज्ञ भाव से पूजा है यदि ही कृतज्ञता आज के भौतिक शास्त्री में भी रहे तो वह भी उसे श्रद्धाभाव से प्रणाम करेगा, जैसे प्रातः काल अपनी दुकान पर बैठने वाला महाजन अपने उपकरणों को धो-पोंछकर अगरबत्ती दिखलाता है या अपनी वही में श्री गणेशाय नमः लिखता है।

करती है तो उसे इच्छा ही प्रेरित करती है अथवा यह इच्छा ही प्रकृति को गति देती है। जो विकृति के चरम में जाकर परिणत होती है और रुद्र के तेजस में लीन हो जाती है। यद्यपि इच्छा को आवश्यकता से छिन्न नहीं किया जा सकता फिर भी इच्छा का अनर्गल विस्तार तर्जस ब्रिन्दु पर पहुंचता है वह विकृति ही है।

इस कथन से अनेक प्रश्नों और तर्कों को अवकाश मिलता है किन्तु हम आग्रह मुक्त होकर इसका विश्लेषण करें तो यह विश्वास करना ही होगा कि इच्छा हमें अनावश्यक विस्तार और जटिलता से जोड़ती है। जो लोग इच्छाओं के स्वप्नमय संसार में सुखी हैं और इसकी स्पर्धा में आत्म-विस्मृत धावक की तरह दौड़ रहे हैं उनके लिए आध्यात्म या अभौतिक चिन्तन अर्थहीन है किन्तु जो अपनी आवश्यकता से पीड़ित हैं अथवा अधिकता से त्रस्त हैं उनके लिए यह चिन्तन आवश्यकता बन जाता है।

संसार में ये विरुद्ध विचार धाराएं नहीं होतीं तो समरसता हो जाती, गति में वेग नहीं आता। सरिता के मार्ग में अवरोध नहीं आता तो घुमाव नहीं होते और घुमाव नहीं होते तो उसके प्रवाह में वेग और बल नहीं होते। आर और वृत्त गति में सूचक भी होते हैं और उसे बल देने वाले भी जैसे सफेद और काले चित्र में दोनों रंग एक-दूसरे के पूरक और अभिव्यक्ति देने वाले होते हैं। ये परस्पर विरुद्ध वृत्तियां सनातन हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं अतएव संसार का चिह्न है। इस द्वैत ने ही अद्वैत का उद्घाटन किया है, इस गति से ही स्थिरता प्रतिष्ठित हुई है।

प्रत्येक आध्यात्मचेता मूल आवश्यकता पर केन्द्रित होने की साधना करता है और ये आवश्यकताएं भी आगे चलकर सिमटने लगती हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की ॱतना का विकास होता है वह शक्ति के प्रखर अतएव नियामक स्तर पर पहुंचने लगता है। परिणामत: उसकी आवश्यकताएं भी मूलरूप में केन्द्रित होने लगती हैं।

इस प्रकार की साधना में व्यक्ति बाह्य संसार से छिटकता नहीं है प्रत्युत शक्ति की मूलधारा एवं प्रचंड स्वरूप से एकाकार हो जाता है इसलिए स्थूल एवं मनोलोक पर शासन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है जिन स्वनामधन्य ऋषियों ने मंत्र अथवा तंत्र का भौतिक फलित

बतलाया है वे व्यक्ति को तथा व्यक्तिगत शक्ति को एक निश्चित रूप देकर उसे दिशा विशेष में प्रक्षेपित करने की पद्धति से परिचित रहे हैं। ऐसा उपदेश करके भी ऋषियों ने मंत्र या तंत्र के आध्यामिक पक्ष को निर्बल नहीं होने दिया, शब्द को ब्रह्ममय मानकर उन्होंने ब्रह्म की उपासना का मार्ग बतलाया।

यहां हम ऋषियों के आध्यात्म चिन्तन और प्रकृति के क्रिया विस्तार का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहे हैं, इस निरीक्षण अथवा विवेचन का एक ही प्रयोजन है कि हमारे ऋषियों का विज्ञान बोध कितना सटीक और आधारवान् रहा था, इसके साथ ही हमारे वर्तमान की उपलब्धियां भी प्रकृति की इच्छा एवं व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर पा रही, नहीं कर सकती।

जो लोग यह आक्षेप लगाते हैं कि "हमने सूर्य और चन्द्र को, अग्नि और इन्द्र को देवता कहकर हमारी अल्पज्ञता और अन्धविश्वास की प्रतिष्ठा की है" वे भारतीय चिन्तन की विराट्ता, स्पष्टता और चेतनवादिता को समझते ही नहीं हैं। यदि हम देव, दानव, भगवान, मानव आदि शब्दों के व्यावहारिक प्रतीकों से व तदाश्रित बोध से मुक्त होकर यह मान लें कि ये शब्द शक्ति के स्तर का मानक है तो कोई विरोध ही नहीं रहेगा। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हम यह समझ लें कि इतनी टी० एन० टी० शक्ति को देव और दानव कहेंगे तथा इतनी को भगवान कहेंगे तो आज के जड़ विज्ञान से भी हमारा सामंजस्य बैठ जाएगा। इसी स्तर को हमने देवता कहा है और देवत्व की हमने सीमा भी बना दी है। किन्तु इतने उज्ज्वल सम्बोधन देने के पीछे हमारी वही निरहंकारी समर्पित भावना रही है, अज्ञता या अन्धता नहीं रही।

सूर्य तो हमारा रक्षक है, इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र और शक्ति के प्रखर रूप का भास्वर प्रतीक। हमने सूर्य को देवता मानकर कृतज्ञ भाव से पूजा है यदि ही कृतज्ञता आज के भौतिक शास्त्री में भी रहे तो वह भी उसे श्रद्धाभाव मे प्रणाम करेगा, जैसे प्रातः काल अपनी दुकान पर बैठने वाला महाजन अपने उपकरणों को धो-पोंछकर अगरबत्ती दिखलाता है या अपनी वही में श्री गणेशाय नमः लिखता है।

स्रोत पद्धति में जीने वाले अथवा भारत की संस्कार विधि के अनुयायी जानते हैं कि हवन के बिना हमारा कोई भी शुभ (अशुभ) कार्य सम्पन्न नहीं होता और जैसा प्रयोजन होता है वैसे ही आह्वनीय द्रव्य रहा करते हैं। विवाह में लाजा होम, यज्ञोपवीत में तिल, जौ, शक्कर, घी का हवन तथा विशिष्ट प्रयोगों में विशिष्ट पदार्थों का हवन करना हमारी शास्त्र सम्मत व्यवस्था है। इस व्यवस्था के रहस्य को समझने पर और अग्नि के विविध कार्यों की समीक्षा करने पर आज का रसायन शास्त्री भी अग्नि की महिमा और विलक्षणता के आगे नत मस्तक हो जाएगा।

हम सब जानते हैं कि ऊष्मा का तीव्र रूप ही अग्नि के रूप में चमकता है। यहां ऊष्मा शब्द, शक्ति और ताप का सामान्य पर्याय माना गया है। यही अग्नि विश्व में हो रहे रासायनिक परिवर्तन की परम्परा में प्रमुख योगदान करती है इस तथ्य से परिचित रसायन शास्त्री जानते हैं कि अग्नि एक सम्पूर्ण और विश्वसनीय एजेंट है किन्तु हमने अग्नि को जड़ मानकर उससे सम्पादित कृत्यों को स्थूल दृष्टि से नहीं देखा प्रत्युत उसकी शक्ति को देवत्व का रूप मानकर प्रणाम किया। यही अग्नि हमारे भोजन पकाने में सहायक बनती है तो हम वैश्वानर कहते हैं, हवन करते समय हम इसे हव्यवाह कहते हैं और निष्प्राण शरीर को भस्मसात् कर रही अग्नि कव्यवाह कहलाती है। आशय यह कि हमारी वैज्ञानिकता के पीछे ब्रह्मवाद तो रहा ही पर उसके साथ ही हमने शक्ति का प्रयोगात्मक रूप देखकर तदनुसार उसका वर्गीकरण और नामकरण भी किया।

संभव है, हमारा रसायन शास्त्र आज के रसायन शास्त्र से अधिक सूक्ष्म और संवेदनशील रहा हो क्योंकि अग्नि या अन्य देवताओं के रूप में शक्ति के अनन्त व विराट् रूप का हमने हमारे प्रयोजन के अनुसार रूप निर्धारण और नामकरण कर लिया हो ठीक वैसे ही जैसे कल्प से लेकर प्रलय पर्यन्त के एक कालखण्ड को हमने घण्टा, मिनट, सैकण्ड, वर्ष, शताब्दि जैसे खण्डों में अथवा भाखडा से आ रही शक्ति की अतिपृथुलों धारा को रेडियो, पंखा, फ्रिज जैसे नाम, रूप व प्रकार में व्यक्त कर लिया है।

इसके अतिरिक्त हमारी चेतनवादिता ने हमारे ज्ञान को वास्तविक

रूप में वि-ज्ञान बनाने का कार्य किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी इन्द्रियों की क्षमता निश्चित है, इस क्षमता से कम या अधिक आकार व मात्रा वाले पदार्थ हमारे लिए अज्ञेय हैं। विज्ञान वाले सूक्ष्मदर्शक, दूरदर्शक जैसे उपकरण नहीं बनाते तो अनेक विषय आज भी विश्वास के ही आधार पर चलते रहते—ऐसा पांच तत्त्वों से संबंधित सभी इन्द्रियों और ज्ञानोपकरणों के क्षेत्र में होता। हम इस जड़वादी विज्ञान के भी बहुत आभारी हैं कि इसने स्थूल रूप को जानने-समझने के लिए हमें विविध प्रकार के साधन दे दिए किन्तु इससे भी अधिक रहस्यपूर्ण और महत्वपूर्ण बात यह कि जो वास्तविकता इन साधनों की पकड़ में नहीं आ सकी उसे हमारे विश्वास ने सिद्ध कर दिया।

हम यह नहीं कहते कि इन्द्रियों की सामर्थ्य को बढ़ाने के कोई सार्वजनिक उपकरण हमारे पास थे पर संसार के स्थूल रहस्य और सूक्ष्म व्यवहार से हमारा परिचय अवश्य रहा था। कार्य-कारण सम्बन्ध की अनिवार्यता के आधार पर हमने स्थूल परिणामों के सूक्ष्म कारणों का यथार्थ आधार ढूंढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली थी। हमारा तत्त्व दर्शन भले ही आधुनिक विज्ञान पद्धति से पूर्ण सामंजस्य न रखे फिर भी यह विज्ञान उससे समन्वित हो सकता है।

हम भारतीय वैज्ञानिकता के आधार पर अग्नि का वैज्ञानिक विश्लेषण कर रहे थे और अग्नि की विशेषता को देवत्व के भाव से थाह रहे थे। विश्लेषण के माध्यम से भारत की अतिवैज्ञानिकता का परिचय प्राप्त कर रहे थे। अग्नि की केवल रासायनिक परिवर्तन का माध्यम अथवा शक्ति का तेजस्वी रूप मानने से हम केवल रसायन शास्त्र के बहिर्मुखी निर्णय को ही मान पाएंगे किन्तु भारतीय चिन्तन के अनुरूप उसे देवता कहने पर उस अलक्षित संसार और उसमें अग्नि के कार्य व्यवहार की विशेषता को भी समझ जाएंगे।

इसमें कोई मतभेद नहीं होना चाहिए कि हमारे वातावरण में ऐसे अनेकों स्तर ओर देह हैं कि वे हमारी इन्द्रियों के ज्ञान की सीमा में नहीं आ पाते और उनका पोषण भी इसी प्राकृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत है इस पोषण में अग्नि का योग अनिवार्य रहता है। यह विशेषता केवल अग्नि में

ही है कि वह स्थूल पदार्थ का रासायनिक परिवर्तन इतने स्तरों और रूपों में करता है कि उससे हमारे वातावरण में विद्यमान सभी प्राणियों का पोषण होता रहता है इसीलिए हम अग्नि को हव्यवाह कहते हैं। हमारा देह स्थूल है इसलिए हमें स्थूल आहार की आवश्यकता होती है और अग्नि देव हमारे पाचन तंत्र के अनुकूल भोजन को पका देता है किन्तु मानवदेह ही अन्तिम नहीं है इससे सूक्ष्म और अति सूक्ष्म देहों के स्तर और हैं, स्वाभाविक है उन देहों के लिए किसी-न-किसी प्रकार का आहार चाहिए हो और अग्नि उन स्तरों को भी योग्य आहार उपलब्ध कराता है। यह प्रक्रिया वैज्ञानिक उपकरणों से—आज की स्थिति में—सिद्ध नहीं की जा सकती फिर भी यथार्थ है।

हमारे चिन्तन और क्रियाविधि की वैज्ञानिक सिद्धि थोड़ी और गंभीरता से विचार करने पर प्रतिपादित हो जाती है। शब्दों के अन्तर और अन्तर्मुखी वृत्ति के आग्रह से मुक्त होकर हम विचार करें तो क्रिया की स्थूलता से हटकर उसके सूक्ष्म रहस्य का उद्‌घाटन होता है और हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि प्रकृति अपने मूल रूप में अवस्थित है और विकृति भी उसी का परपक्ष है।

अग्नि के जिस रासायनिक गुण और शक्ति का परिचय हम प्राप्त कर रहे थे वह कुछ विश्वास भूमि का था और कुछ प्रत्यक्ष हो रही स्थिति का। अव इसकी भारतीय वैज्ञानिक पद्धति का सूक्ष्म विवेचन और कर लें। हमारा दर्शन और विज्ञान संसार को ब्रह्म का विस्तार मानता है और उस विकास की चरमपरिणति जिस स्तर पर होती है वह तत्त्व कहलाता है जिन्हें पांच की संख्या में अथवा पांच रूपों में हम जानते हैं। ये तत्त्व, स्थूल रूप में हमारे सामने और इतस्ततः हैं। इन्हें तत्त्व शब्द से कहने के पीछे यही रहस्य है कि ये उस 'तत्, का ही भाव हैं अर्थात् 'तत्' (वह) के रूप में अपरिभाष्य ब्रह्म का भाव ही इन पांच तत्त्वों के क्रमिक विस्तार में अभिव्यक्त है।

सूक्ष्म, अज्ञेय अथवा अनाम रूप 'तत्' की अभिव्यक्ति जिस पद्धति पर होती है उसे जानने के लिए अधुनातन विज्ञान आतुर है क्योंकि इस परिज्ञान से उसे प्रवृति की कार्यविधि का परिचय मिलता है और इस

परिचय से हम प्रकृति से वह प्राप्त करना चाहते है जो सामान्य रूप से अथवा प्रकृति निर्भर अवस्था में प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस रहस्य-भेदन से हमारा जीवन सुगम होता है, हमारी प्रगति होती है और हमारे दुःखों का निवारण और सुखों का समागम होता है—ऐसा वैज्ञानिक अन्वेषकों का मानना है। इस स्थूल परिदर्शन को भौतिक विज्ञान अपनी और मानव इतिहास में होने वाली अभूतपूर्व घटना नहीं कह सकता क्योंकि इसका मूल स्वरूप भारतीय कर्मकाण्ड में स्पष्ट और प्रामाणिक रूप में वर्तमान है। मान लिया हम अग्नि के पारमार्थिक स्वरूप को किसी प्रकार का अभिव्यंजक अथवा संकेतक देना चाहते हैं तो उसके लिए सर्वप्रथम शब्द का आवरण देंगे। अग्नि के देव, दाहक जैसे रूप शक्तियों को शब्द के स्तर पर अभिव्यक्त होने देंगे फिर वही शब्द जब वर्ण का रूप लेगा तो उसकी तरंगायित अवस्था एक रेखांकन के माध्यम से प्रस्तुत होगी और यह शब्दहीन रेखांकन वर्ण प्रधान रहेगा अर्थात् इसमें आंखों से देखने-जानने लायक बात अधिक प्रखर हो जाएगी, कान से सुनने योग्य मन्द हो जाएगी। रेखा में शब्द नहीं है वर्ण है, वर्ण का अर्थ रंग होता है और रंग चाक्षुष विषय है। यों इन रेखा क्रमों और गति को भी शब्द से व्यक्त किया जा सकता है किन्तु ये रेखाएं अपने आपमें ही परिभाषित हैं, शब्द के माध्यम से ये ज्ञान का दूसरा उपादान बन जाती हैं।

रेखाओं के माध्यम से हम स्पन्दन की मूल-रूप से विकासमान गति को चित्रित करते हैं। अग्नि को, अग्नि के मंत्र को अथवा अग्नि के मूलरूप को रेखाओं की आकृति से व्यक्त करने पर हम एक-एक षट्कोण बनाते हैं। यह षट्कोण दो बिन्दुओं के विस्तारित होने से बनने वाले दो त्रिभुजों को एक-दूसरे में नद्ध करने पर बना है। ये बिन्दु भाषा में विसर्ग कहलाते हैं और लिपि रूप में बिन्दु से ही लिखे जाते हैं। विसर्ग का अर्थ होता है विशिष्ट रूपा सृष्टि। विशिष्ट से आशय यह कि सामान्य तत्त्व अब विशेष प्रकार का रूप-आकार ग्रहण कर रहा है इसीलिए भावात्मक संसार में व्याप्त एकरूप अब विभिन्न और विशिष्ट रूप ग्रहण करने लगता है यही अर्थ विसर्ग शब्द का होता हे और ऐसी ही क्रिया उसमें होती है। रसायन विज्ञान के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि पदार्थ के मूलभूत परमाणु

अपने नाभिक में समान-सामान्यता में ही हैं किन्तु जब वे यौगिक अवस्था में आते हैं और इस तरह के यौगिक जब किसी पदार्थ को स्थायी आकार देने की प्रक्रिया में रहते हैं तो उनके प्रथम आवरण में दो इलैक्ट्रान नियत संख्या में रहते हैं।

दो इलैक्ट्रानों की इस स्थिति को हमने और अधिक विकसित करके एक षड्भुज के रूप में रेखांकित करना अधिक समीचीन समझा। यह यंत्र का प्रथम आवरण रहा, न्यूक्लीयस का परवर्ती पहला आरबिट रहा। हमारी चेतनवादिता ने इसके छः कोणों को छः अंग मान लिया—हृदय, शिर, शिखा, कवच, तीन नेत्र, अस्त्र या सर्वांग। क्या हमारी रेखांकन पद्धति से रसायन शास्त्र का सिद्धान्त मेल नहीं खाता ?

इससे आगे दूसरे आवरण में हम आठ आर वाला एक वृत्त बनाते हैं जिसे अष्टदल कमल के रूप में चित्रित किया जाता है। ये आर अभिव्यक्ति की प्रकट एवं विशिष्ट अवस्था को संकेतित करते हैं। इसे हम देवता का विकसित एवं विशिष्ट रूप कहते हैं। जैसे अग्नि के यंत्र में बनाए गए आठ आरों में हम उसके विभिन्न रूपों अतएवं शक्तियों का पूजन करते हैं जैसे एक पत्र में हमने उसे वैश्वानर कहा, वैश्वानर हमारे घरों में भोजन पकाने वाला रूप है, दूसरे पत्र में हमने उसे हव्यवाह कहा—हव्यवाह का अर्थ होता है—सूक्ष्म रूपों एवं उच्च लोकों में रहने वाले देवताओं, पितरों आदि के निमित्त दिए गए पदार्थों को ले जाने वाला तीसरे में हमने ज्वलन कहा, चौथे में धूमकेतु पांचवें में हुतभुक्—हुतभुक् का अर्थ होता है, हवन किए गए को खा जाने वाला। मूलतः ये सारे नाम एक ही अग्नि के हैं और अग्नि के रूप में वह समग्र है किन्तु इन विविध कार्यों के सम्पादन के समय वह विशिष्ट रूप में पूजा-पहचाना जाता है।

इस पद्धति के लिए हम यह कहें कि परमाणु के परवर्ती वृत्त में आठ इलैक्ट्रानों की संख्या नियत रहती है, भले ही इस गणपूर्ति के लिए किसी अन्य परमाणु से लेने-देने का संबंध क्यों न जोड़ना पड़े यह प्रक्रिया स्वतन्त्र रूप लेने वाले यौगिक के लिए अनिवार्य है।

प्रस्तुत समीकरण भारतीय दर्शन के साथ वैज्ञानिक चिन्तन का तारतम्य बलात् बिठलाने के लिए नहीं किया गया है प्रत्युत इस दृष्टि से

किया गया है कि अणु की संरचना एवं कार्य विधि से हमारे पूर्वज परिचित थे किन्तु उन्होंने अणु, परमाणु पदार्थ और तत्त्वों को ये बहिर्मुखी नाम नहीं दिए क्योंकि इन नामों के पीछे विज्ञान का जडवाद है और वे इससे स्थूल जगत् को ही समझना चाहते हैं, हम ब्रह्मवादी रहे इसलिए प्रकृति का प्रत्येक क्रिया-कलाप हमारे लिए देवत्व का प्रतीक रहा। प्रकृति के साथ हमारे संबंध बहुत सुकुमार और शालीन रहे इसलिए उसकी कार्यविधि के अनुरूप संरचना और विकास का मार्ग हमने अपनाया और तत्त्वों को एलिमेंट पद्धति पर विकसित करने की अपेक्षा 'तत्' के अनुसार पहचानने की साधना की। परिणाम यह हुआ कि हमारे दर्शन के अनुसार तत्त्व पांच बने रहे और हमने संसार को पंचीकरण की परिणति मानकर उसमें अपेक्षित संयोजन सिद्ध करने के सूत्र निर्मित किए। ये सूत्र मंत्र के रूप में हमारे सामने हैं जिनका विवेचन और रहस्य भेदन श्रद्धा संकुलता से संभव हो सकता है।

वेद और वेदी

वेद मानवीय रचना हैं या ईश्वरीय उपदेश ? आर्य मध्य एशिया से यहां आए या यहीं के मूल निवासी थे ? ऐसे प्रश्नों का प्रमाणपुष्ट उत्तर खोजना साधना के क्षेत्र में निस्सार है, इससे साधक को कोई प्रयोजन है भी नहीं। फिर भी इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वेद सनातन ज्ञान का आदि प्रकटीकरण है और यह प्राकट्य भारत भूमि पर हुआ इसलिए इस भूभाग की विशिष्टता स्वतः प्रमाणित है।

मैक्समूलर ने और दयानन्द ने वेदों का विदेश एवं देश में प्रचार किया, यह निश्चित रूप से श्रेयस्कर प्रयास था किन्तु इस प्रयास से वेदों का अवमूल्यन और अनर्थकरण भी हुआ। भगवान पंतजलि कहते हैं कि वेदों का तत्त्वार्थ केवल समाधिपद में ही गम्य है, इस शताब्दी के योगी अरविन्द ने भी स्वीकार किया है कि वेद की ऋचायें समाधि-अवस्था में प्रकट होती रही। वेद के साधारणीकरण में वैधानिक आपत्ति नहीं है और आज के सन्दर्भ में द्विज एवं शूद्र का निरर्थक विवाद उत्पन्न करना भी अरुचिकर है किन्तु मां शारदा की कृपा से जब यत्किंचित् ज्ञान का उन्मेष होने लगता

है तो इन सामाजिक संबोधनों तथा चिह्नों से विज्ञापित जाति हमें कृत्रिम लगने लगती है।

स्मृति और संहिता में वर्णों का जो लक्षण एवं कर्म बतलाया है वह किसी युग में इतना तीव्र था कि उसमें व्यक्ति गौण था और कर्म प्रमुख था। ज्ञान की शुद्ध, अतिशुद्ध और परमशुद्ध अवस्थाएं ही द्विज का निर्धारण करती थी। कालान्तर में ज्ञान इस विभाजन से मुक्त हो गया और कर्म-क्रिया (जन्म लेने मात्र से) ही जाति मान ली गई। आभासिक, आनुमानिक और यथार्थ ये ज्ञान की स्थितियां है जो उत्तरोत्तर ज्ञान की वास्तविकता अतएव प्रखरता को परिभाषित करती हैं। ब्राह्मण या भूदेव ज्ञान के यथार्थ से परिचित होने की पात्रता का नाम है। यह उस युग की विशेषता रही थी कि ब्राह्मण का धर्म-कर्म वातावरण आदि सभी कुछ, ज्ञान की उच्च भूमिका प्राप्त कर लेने के लिए उपयुक्त रहते थे और प्रत्येक जन अपने वर्ण को तथा तदाश्रित धर्म को पूज्य-पालनीय समझता था। उस युग के लिए व्यक्ति एवं व्यक्तिगत, वर्ण धर्म से भिन्न नहीं हो सकता था, इसलिए जाति और धर्माचरण एकरूप थे और यही एक कारण है कि सहस्राब्दियों तक यह वर्णव्यवस्था चलती रही, कभी भी वर्ग या वर्ण संघर्ष नहीं हुआ।

वर्णानुसार वृत्ति की व्यवस्था समाज में विच्छेद भाव का विस्तार न करके वृत्ति किंवा धर्मकेन्द्रित किए रहती थी परिणाम स्वरूप कार्यकुशलता और कर्तव्यनिष्ठा का प्रेरक तत्त्व था—धर्म और वेद-धर्मोत्तरी (धर्म के निरुपण-निश्चयन का आधार)। वैदिक वर्ण विभाजन को स्थूल बुद्धि से देखने पर वर्णों की उच्चता और नीचता दृष्टिगत होती है अन्यथा यह एक प्राकृतिक सूक्ष्म व्यवस्था का स्थूलीकरण रहा है। प्राकृतिक व्यवस्था का अर्थ यह कि व्यवहारिक स्थिति में हमारे देह में ही उच्च स्तर निम्न स्तर का शोषण करते रहते हैं। मन कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का शोषण करता है वे इन्द्रियां अवशभाव से उसकी आज्ञानुकारी बन कर सेवा करती हैं, बुद्धि मन की और चेतना बुद्धि की सेवा लेती रहती है। यद्यपि जैसे-जैसे स्तर ऊंचा होता जाता है वैसे-वैसे शोषण की प्रक्रिया मन्द होती जाती है फिर भी यह प्राकृतिक क्रिया है। प्रकृति की इस क्रिया विधि में शोषण है अवश्य किन्तु वह क्रिया की समग्रता के लिए आवश्यक है और उसे शोषण

नहीं कहा जाता।

यही बात समाज पुरुष के लिए वैदिक व्यवस्था में रही है। जिस प्रकार मन या बुद्धि या चेतन शोषण करके भी परस्पर पूरक बने रहते हैं उसी प्रकार चारों वर्ण शोषण की शैली में रहकर भी क्रूर या विखण्डनकारी नहीं बन सके। उनकी धर्मपरायण वृत्ति किसी गुरुतर लक्ष्य को समर्पित रही थी, वे अपने-अपने वृत्तों में रहकर सहस्रशीर्षा पुरुष का प्रतीकात्मक रूप बनाते रहे थे, अपने नियत एवं सद्आचार से विश्वरूपता को स्थापित करते रहे थे।

शूद्र हेय नहीं था, वह समाज का सेवक था। सेवा किसकी? सेवक कौन? ये सारी बातें एक सामंजस्य से पूर्ण थी। हमारी देह में स्थित पैरों से वेद ने समाज सेवी की तुलना की फिर मात्र शब्द से यह वर्ग निन्दनीय किसलिए मान लिया गया? तात्विक दृष्टि से देखें तो पैर हमारे सारे देहसंभार का आधार बनता है, उनका सबल रहना शरीर की क्षमता व पूर्णता के लिए आवश्यक रहता है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो पैरों को गंदा अथवा निर्बल बने रखना चाहेगा? ऐसी ही एकरूपता वैदिक-व्यवस्था में शूद्र पद की रही थी। रहा सवाल सेवा का, सो सेवा ने निष्काम कर्मयोग का आदर्श प्रस्तुत किया है। वीर हनुमान अपनी सेवावृत्ति के गौरव से ही चिरंजीवियों की श्रेणी में आए और देवता के रूप में पूज्य बन गए। कर्मयोग की भावना से की गई सेवा एक सोपान है, एक प्रशस्त राजमार्ग है और उत्थान का आधार स्थूल है।

शूद्र की यह अवस्था पृथ्वी के समान है पृथ्वी जिस तरह सारे तत्वों का आधार है, उसमें सभी तत्वों के आयाम-तन्मात्रा प्रकट रूप में विद्यमान रहते हैं उसी तरह सेवायोगी शूद्र की आधारभूमि पर सारे वर्ण टिके रहते हैं।

वेद में मर्यादा के सम्बन्ध में कोई समझौता करने वाली मृदुता या लचीलापन नहीं है। वह व्यवस्था को समर्पित है, वहां मूल्य अचल की तरह अविचल हैं व्यक्ति या युग की स्थिति को देखकर उनमें संशोधन-परिवर्तन नहीं किया जाता क्योंकि वेद ज्ञान का सत् स्वरूप है इसलिए सनातन हैं, शाश्वत हैं उनमें विकार या परिस्कार की संभावना है ही नहीं। वेदाचार

है तो इन सामाजिक संबोधनों तथा चिह्नों से विज्ञापित जाति हमें कृत्रिम लगने लगती है।

स्मृति और संहिता में वर्णों का जो लक्षण एवं कर्म बतलाया है वह किसी युग में इतना तीव्र था कि उसमें व्यक्ति गौण था और कर्म प्रमुख था। ज्ञान की शुद्ध, अनिशुद्ध और परमशुद्ध अवस्थाएं ही द्विज का निर्धारण करती थी। कालान्तर में ज्ञान इस विभाजन से मुक्त हो गया और कर्म-क्रिया (जन्म लेने मात्र से) ही जाति मान ली गई। आभासिक, आनुमानिक और यथार्थ ये ज्ञान की स्थितियां है जो उत्तरोत्तर ज्ञान की वास्तविकता अतएव प्रखरता को परिभाषित करती हैं। ब्राह्मण या भूदेव ज्ञान के यथार्थ से परिचित होने की पात्रता का नाम है। यह उस युग की विशेषता रही थी कि ब्राह्मण का धर्म-कर्म वातावरण आदि सभी कुछ, ज्ञान की उच्च भूमिका प्राप्त कर लेने के लिए उपयुक्त रहते थे और प्रत्येक जन अपने वर्ण को तथा तदाश्रित धर्म को पूज्य-पालनीय समझता था। उस युग के लिए व्यक्ति एवं व्यक्तिगत, वर्ण धर्म से भिन्न नहीं हो सकता था, इसलिए जाति और धर्माचरण एकरूप थे और यही एक कारण है कि सहस्राब्दियों तक यह वर्णव्यवस्था चलती रही, कभी भी वर्ग या वर्ण संघर्ष नहीं हुआ।

वर्णानुसार वृत्ति की व्यवस्था समाज में विच्छेद भाव का विस्तार न करके वृत्ति किंवा धर्मकेन्द्रित किए रहती थी परिणाम स्वरूप कार्यकुशलता और कर्तव्यनिष्ठा का प्रेरक तत्त्व था—धर्म और वेद-धर्मोत्तरी (धर्म के निरुपण-निश्चयन का आधार)। वैदिक वर्ण विभाजन को स्थूल बुद्धि से देखने पर वर्णों की उच्चता और नीचता दृष्टिगत होनी है अन्यथा यह एक प्राकृतिक सूक्ष्म व्यवस्था का स्थूलीकरण रहा है। प्राकृतिक व्यवस्था का अर्थ यह कि व्यवहारिक स्थिति में हमारे देह में ही उच्च स्तर निम्न स्तर का शोषण करते रहते हैं। मन कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का शोषण करता है वे इन्द्रियां अवशभाव से उसकी आज्ञानुकारी बन कर सेवा करती हैं, बुद्धि मन की और चेतना बुद्धि की सेवा लेती रहती है। यद्यपि जैसे-जैसे स्तर ऊंचा होता जाता है वैसे-वैसे शोषण की प्रक्रिया मन्द होती जाती है फिर भी यह प्राकृतिक क्रिया है। प्रकृति की इस क्रिया विधि में शोषण है अवश्य किन्तु वह क्रिया की समग्रता के लिए आवश्यक है और उसे शोषण

नहीं कहा जाता ।

यही बात समाज पुरुष के लिए वैदिक व्यवस्था में रही है । जिस प्रकार मन या बुद्धि या चेतन शोषण करके भी परस्पर पूरक बने रहते हैं उसी प्रकार चारों वर्ण शोषण की शैली में रहकर भी क्रूर या विखण्डनकारी नहीं बन सके । उनकी धर्मपरायण वृत्ति किसी गुरुतर लक्ष्य को समर्पित रही थी, वे अपने-अपने वृत्तों में रहकर सहस्रशीर्षा पुरुष का प्रतीकात्मक रूप बनाते रहे थे, अपने नियत एवं सद्आचार से विश्वरूपता को स्थापित करते रहे थे ।

शूद्र हेय नहीं था, वह समाज का सेवक था। सेवा किसकी ? सेवक कौन ? ये सारी बातें एक सामंजस्य से पूर्ण थी । हमारी देह में स्थित पैरों से वेद ने समाज सेवी की तुलना की फिर मात्र शब्द से यह वर्ग निन्दनीय किसलिए मान लिया गया ? तात्विक दृष्टि से देखें तो पैर हमारे सारे देहसंभार का आधार बनता है, उनका सबल रहना शरीर की क्षमता व पूर्णता के लिए आवश्यक रहता है । कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो पैरों को गंदा अथवा निर्बल बने रखना चाहेगा ? ऐसी ही एकरूपता वैदिक-व्यवस्था में शूद्र पद की रही थी । रहा सवाल सेवा का, सो सेवा ने निष्काम कर्मयोग का आदर्श प्रस्तुत किया है । वीर हनुमान अपनी सेवावृत्ति के गौरव से ही चिरंजीवियों की श्रेणी में आए और देवता के रूप में पूज्य बन गए । कर्मयोग की भावना से की गई सेवा एक सोपान है, एक प्रशस्त राजमार्ग है और उत्थान का आधार स्थूल है ।

शूद्र की यह अवस्था पृथ्वी के समान है पृथ्वी जिस तरह सारे तत्वों का आधार है, उसमें सभी तत्वों के आयाम-तन्मात्रा प्रकट रूप में विद्यमान रहते हैं उसी तरह सेवायोगी शूद्र की आधारभूमि पर सारे वर्ण टिके रहते हैं ।

वेद में मर्यादा के सम्बन्ध में कोई समझौता करने वाली मृदुता या लचीलापन नहीं है । वह व्यवस्था को समर्पित है, वहां मूल्य अचल की तरह अविचल हैं व्यक्ति या युग की स्थिति को देखकर उनमें संशोधन-परिवर्तन नहीं किया जाता क्योंकि वेद ज्ञान का सत् स्वरूप है इसलिए सनातन हैं, शाश्वत हैं उनमें विकार या परिस्कार की संभावना है ही नहीं । वेदाचार

है तो इन सामाजिक संबोधनों तथा चिह्नों से विज्ञापित जाति हमें कृत्रिम लगने लगती है।

स्मृति और संहिता में वर्णों का जो लक्षण एवं कर्म बतलाया है वह किसी युग में इतना तीव्र था कि उसमें व्यक्ति गौण था और कर्म प्रमुख था। ज्ञान की शुद्ध, अनिशुद्ध और परमशुद्ध अवस्थाएं ही द्विज का निर्धारण करती थी। कालान्तर में ज्ञान इस विभाजन से मुक्त हो गया और कर्म-क्रिया (जन्म लेने मात्र से) ही जाति मान ली गई। आभासिक, आनुमानिक और यथार्थ ये ज्ञान की स्थितियां है जो उत्तरोत्तर ज्ञान की वास्तविकता अतएव प्रखरता को परिभाषित करती हैं। ब्राह्मण या भूदेव ज्ञान के यथार्थ से परिचित होने की पात्रता का नाम है। यह उस युग की विशेषता रही थी कि ब्राह्मण का धर्म-कर्म वातावरण आदि सभी कुछ, ज्ञान की उच्च भूमिका प्राप्त कर लेने के लिए उपयुक्त रहते थे और प्रत्येक जन अपने वर्ण को तथा तदाश्रित धर्म को पूज्य-पालनीय समझता था। उस युग के लिए व्यक्ति एवं व्यक्तिगत, वर्ण धर्म से भिन्न नहीं हो सकता था, इसलिए जाति और धर्माचरण एकरूप थे और यही एक कारण है कि सहस्राब्दियों तक यह वर्णव्यवस्था चलती रही, कभी भी वर्ग या वर्ण संघर्ष नहीं हुआ।

वर्णानुसार वृत्ति की व्यवस्था समाज में विच्छेद भाव का विस्तार न करके वृत्ति किंवा धर्मकेन्द्रित किए रहती थी परिणाम स्वरूप कार्यकुशलता और कर्तव्यनिष्ठा का प्रेरक तत्त्व था—धर्म और वेद-धर्मोत्तरी (धर्म के निरुपण-निश्चयन का आधार)। वैदिक वर्ण विभाजन को स्थूल बुद्धि से देखने पर वर्णों की उच्चता और नीचता दृष्टिगत होनी है अन्यथा यह एक प्राकृतिक सूक्ष्म व्यवस्था का स्थूलीकरण रहा है। प्राकृतिक व्यवस्था का अर्थ यह कि व्यवहारिक स्थिति में हमारे देह में ही उच्च स्तर निम्न स्तर का शोषण करते रहते हैं। मन कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का शोषण करता है वे इन्द्रियां अवशभाव से उसकी आज्ञानुकारी बन कर सेवा करती हैं, बुद्धि मन की और चेतना बुद्धि की सेवा लेती रहती है। यद्यपि जैसे-जैसे स्तर ऊंचा होना जाता है वैसे-वैसे शोषण की प्रक्रिया मन्द होती जाती है फिर भी यह प्राकृतिक क्रिया है। प्रकृति की इस क्रिया विधि में शोषण है अवश्य किन्तु वह क्रिया की समग्रता के लिए आवश्यक है और उसे शोषण

नहीं कहा जाता ।

यही बात समाज पुरुष के लिए वैदिक व्यवस्था में रही है। जिस प्रकार मन या बुद्धि या चेतन शोषण करके भी परस्पर पूरक बने रहते हैं उसी प्रकार चारों वर्ण शोषण की शैली में रहकर भी क्रूर या विखण्डनकारी नहीं बन सके। उनकी धर्मपरायण वृत्ति किसी गुरुतर लक्ष्य को समर्पित रही थी, वे अपने-अपने वृत्तों में रहकर सहस्रशीर्षा पुरुष का प्रतीकात्मक रूप बनाते रहे थे, अपने नियत एवं सद्आचार से विश्वरूपता को स्थापित करते रहे थे।

शूद्र हेय नहीं था, वह समाज का सेवक था। सेवा किसकी ? सेवक कौन ? ये सारी बातें एक सामंजस्य से पूर्ण थी। हमारी देह में स्थित पैरों से वेद ने समाज सेवी की तुलना की फिर मात्र शब्द से यह वर्ग निन्दनीय किसलिए मान लिया गया ? तात्विक दृष्टि से देखें तो पैर हमारे सारे देहसंभार का आधार बनता है, उनका सबल रहना शरीर की क्षमता व पूर्णता के लिए आवश्यक रहता है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो पैरों को गंदा अथवा निर्बल बने रखना चाहेगा ? ऐसी ही एकरूपता वैदिक-व्यवस्था में शूद्र पद की रही थी। रहा सवाल सेवा का, सो सेवा ने निष्काम कर्मयोग का आदर्श प्रस्तुत किया है। वीर हनुमान अपनी सेवावृत्ति के गौरव से ही चिरंजीवियों की श्रेणी में आए और देवता के रूप में पूज्य बन गए। कर्म-योग की भावना से की गई सेवा एक सोपान है, एक प्रशस्त राजमार्ग है और उत्थान का आधार स्थल है।

शूद्र की यह अवस्था पृथ्वी के समान है पृथ्वी जिस तरह सारे तत्वों का आधार है, उसमें सभी तत्वों के आयाम-तन्मात्रा प्रकट रूप में विद्यमान रहते हैं उसी तरह सेवायोगी शूद्र की आधारभूमि पर सारे वर्ण टिके रहते हैं।

वेद में मर्यादा के सम्बन्ध में कोई समझौता करने वाली मृदुता या लचीलापन नहीं है। वह व्यवस्था को समर्पित है, वहां मूल्य अचल की तरह अविचल हैं व्यक्ति या युग की स्थिति को देखकर उनमें संशोधन-परिवर्तन नहीं किया जाता क्योंकि वेद ज्ञान का सत् स्वरूप है इसलिए सनातन हैं, शाश्वत हैं उनमें विकार या परिस्कार की संभावना है ही नहीं। वेदाचार

ने शूद्रों को विशेष आयोजनों में सम्मिलित होने का अधिकार नहीं दिया, इस बहिष्कार में कोई दुर्भाव या एक वर्ण का तिरस्कार करने की दुरभिसंधि नहीं रही थी प्रत्युत यह एक संकेत था, एक व्यवस्था थी कि तुम किसी विराट् का साक्षात्कार करना चाहते हो तो आगे बढ़ो, यह तुम्हारा शैशव है, ज्ञान की उदात्त अवस्था प्राप्त करने के लिए साधना को सेवा के रूप में स्वीकार करो। शूद्र के लिए निर्धारित कार्यों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसे निन्दनीय माना जाए तदपि हमारी रहस्य-वेत्ताओं की दृष्टि में शूद्र एक जैविक प्रकृति का लक्षण था और उसे स्वतंत्र परिचय चिह्न देने के लिए उन्होंने जाति या वर्ण की व्यवस्था दे दी थी।

जहां तक कर्म एवं आचरण का प्रश्न है उसकी श्रेष्ठता हमारे यहां सभी स्थितियों, स्तरों एवं युगों में मानी जाती रही है। जो देश कर्म और उसके परिणामों को सृष्टि की विविधता का आधार मानता रहा है उसने कर्म के सारे स्वरूपों का चतुर्दिक् ज्ञान किया है कर्म, सुकर्म, अकर्म, दुष्कर्म जैसे अनुभवों को प्रामाणिक रूप में विवेचित किया है। ऐसी परिस्थिति में यह निश्चित है कि जाति को स्थूल आधार मानते हुए भी उसे परम नहीं माना गया। जो जाति से ब्राह्मण होते हुए भी आचार से हीन था उसे ब्राह्मणेतर या पतित कहने में किसी प्रकार का संकोच वेदवाद ने नहीं किया था।

वेद मूलतः ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग है। वह व्यक्ति को ही नहीं समष्टि को सत्य की साधना करने की दृष्टि देता है और इस सत्य साधना के स्तरों को ही वर्णों के रूप में विभाजित करता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की बुद्धि परिमार्जित होती जाती है वैसे-वैसे वह उच्चतर स्तरों को प्राप्त करता जाता है। विश्वामित्र को विशिष्ठ की रूढ़िवादिता ब्रह्मर्षि नहीं कहती पर उनके कर्मबल को, उनकी साधना के श्रेष्ठत्व को वे स्वीकार करते हैं, वेद का परमपवन ब्रह्म गायत्री मंत्र विश्वामित्र की उपलब्धि रही है। इतना अवश्य रहा है कि समाज में द्विज और द्विजेतर के रूप में दो वर्ग रहे थे और द्विजों का बाहुल्य रहा था। यह नैसर्गिक प्रक्रिया है कि शुद्ध से शुद्ध वस्तु किंवा स्थिति में समय की दुर्गंध आने लगती है, परिचय का उपेक्षाभाव व्यापने लगता है। द्विजों की बहुलता वृत्तिकेन्द्रित न रहकर अपने अहंकार

और दंभ से ग्रस्त होती गई तथा वर्गमोह स्वाभाविक क्रिया को उत्पीड़न का रूप देता गया। शूद्र को महत्तर कहने के दिन समाज की विकृत मनोवृत्ति का आविर्भाव प्रकट रूप में हो गया था। इस दंभ का अत्यन्त विकृत रूप आज हमारे सामने है। उच्चवर्ग आरक्षण के नाम पर एक विकृत सहानुभूति दिखा रहे हैं और उस वर्ग को नितान्त पीड़ित एवं दलित कहकर कानून का प्रश्रय दे रहा है। यदि सभी लोग धर्म न सही—क्योंकि धर्म निरपेक्षता के नाम पर धर्म उपेक्षिता को हमने व्यवहार का विषय बना लिया है—नैतिकता और राष्ट्रीयता के नाम पर ही केन्द्रित हो जाएं तो इस अनावश्यक संघर्ष से मुक्त हो सकते हैं, किसी को किसी के प्रति दया की दयनीयता का प्रदर्शन करने और शोषण का छल रचने की आवश्यकता ही न रहे, प्रगति का आधार जाति पर आधारित न होकर पात्र पर निर्भर हो जाए।

शूद्र किस दृष्टि से हेय मान लिया गया ? उसका कर्म कठिनतर था और उसका एक ही संस्कार किया जाता था मात्र ये दो आधार ही उसको शूद्र सिद्ध करते थे। सामाजिक जीवन में उसके अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, शकुनशास्त्र में शूद्र को आज भी शुभ शकुन माना जाता है। भगवान की अर्चा और मंत्रोपासना में उसके लिए भिन्न बीजाक्षर को जोड़ने की परम्परा शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं तंत्र ने उसे भी अधिकार दिया है। वेद मर्यादा ने कर्म की प्रधानता स्वीकार करने में क्रूरता की सीमा तक निष्ठा को माना है, वह व्यवस्था के व्यतिक्रम को सहन नहीं कर सकता।

वेद की सामाजिक संहिता कर्म के स्तरों का निरूपण करती है इसलिए सामाजिक परिप्रेक्ष्य को हम अविचारणीय मानकर उसके क्रिया-पक्ष और दार्शनिक धारा को देखें तो यह कहने में संकोच नहीं कर सकते कि उसने विज्ञान को धर्म के रूप में मानने का कठोर आदेश दिया था और उसे पालन करने की अनिवार्यता घोषित की थी। वेद वास्तव में हमारे आचरण-व्यवहार में सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न था तथा उसकी आज्ञा हमारे लिए विधिवत् आदरणीय थी क्योंकि वे श्रेयस्कर थी।

वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड का विस्तार है यह किसी वर्ग विशेष—

पुरोहित अथवा ब्राह्मण—का लोभग्रस्त प्रदर्शन नहीं है प्रत्युत एक वातावरण को मूर्तिमान करने का विशद आयोजन है जैसे हमारे यहां के किसी चिकित्सालय का अथवा पनडुब्बी का हुआ करता है।

भारत उस भू-भाग का नाम है जो अपने गुण एवं प्रकृतिगत विशेषता के कारण वेद एवं वेदिका के पल्लवित होने का उपयुक्त आधार बनता है। विश्व के अन्य भागों में जितनी भी सभ्यताएं और वैज्ञानिकता का विकास आज तक हुआ उनमें बहिर्वाद की अतएव जड़वृत्ति की प्रमुखता रही थी। आज का भौतिक शास्त्र ही नहीं प्राचीन मयसभ्यता भी स्थूल प्रकृति के बहिरंग को ही उत्तम मानती रही। वेद ने प्रकृति को माया कहकर उसे त्याज्य मानने की घोषण की—इस घोषण के पीछे जड़ विस्तार से ऊपर उठकर चेतन की एक रूपता का अनुभव करने का आग्रह ही रहा था। वेद का चिन्तन वेदिका में मूर्त हुआ करता है, वह क्रिया का स्पर्श पाकर समष्टि का कल्याणकारी बन जाता है।

आज के वैज्ञानिक सूत्रों के आधार पर यदि हम वेद का विवेचन करना चाहें तो हम विस्मय विमूढ़ हुए बिना नहीं रह सकते क्योंकि आज के ही नहीं कल के विकसिततम सूत्र भी वैदिक क्रिया और चिन्तन में निर्दोष रूप में विद्यमान हैं। वेद का चिन्तन वेदी पर प्रकट होता है और वहीं से उसका प्रसार होता है। अग्नि के भास्वरूप को देखकर होता सत्य का साक्षात्कार करते हुए कहता है, "असतो मा सद् गमय-तमसो मा ज्योतिर्गमय" यह उक्ति जितनी बाह्य को रेखांकित करती है उससे अधिक आभ्यन्तर किंवा मूल तत्त्व को संकेतित करती है। इसी में अगला चरण—मृत्यो र्मा अमृतं गमय—संसार की निरंतर परिवर्तनशीलता की आधारभूत शाश्वतिकता को स्पष्ट करता है। अपने विशाल क्रियाक्षेत्र और गंभीर विवेचन के कारण वेद और वेदिका भारत की पहचान रहे हैं, ऋषियों की उपलब्धि माने जाते हैं।

स्थूल दृष्टि से भी यज्ञ एक प्राकृतिक क्रिया है परिवर्तनशील संसार में सभी कुछ अविराम रूप में गति कर रहा है। यह परिवर्तन भौतिक और रासायनिक दोनों ही स्तरों एवं रूपों में समष्टि एवं व्यष्टि तथा लोक और विश्व स्तर पर घटता जा रहा है। प्रकृति के सहज व्यापार में अपने

मनोनुकूल स्थितियां उत्पन्न करने के लिए भौतिक व रासायनिक संयोजन का रहस्य जानने वाला मंत्र द्रष्टा रहा था और वेदिका उसकी प्रयोगशाला थी तथा यज्ञ उसका माध्यम बना था। भौतिक पर्यावरण को सन्तुलित बनाए रखने में कार्बन का योगदान सर्वमान्य तथ्य है। कार्बन विष और प्रतिविष दोनों रूपों में बाह्य वातावरण को व्यवस्थित बनाए रखता है। ऋषि का होता रूप कार्बन की शृंखला को संगत बनाने के लिए भस्म को महत्त्व देता है, भस्म खाता है, भस्म को शरीर में लेपता है, भस्म को खेत में बखेरता है और तो और अपनी गतप्राण देह को भी अग्नि के समर्पित करके भस्मी भूत कर देता है। शवदाह की प्रक्रिया भारत में प्रचारित हुई थी और यह भी एक प्रकार की यज्ञीय पद्धति का ही रूप है। वायु में विद्यमान विष का शमन करने के लिए तथा वातावरण को सन्दूषित होने से बचाने के लिए यज्ञ एक प्रभावशाली प्रक्रिया है।

वस्तुतः यह एक पद्धति है ठीक वैसी ही जैसी ट्रांजिस्टर या मोटर। तेजस् का उपयोगी और सुलभ रूप अग्नि है। सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश और चन्द्रमा की सौम्य चन्द्रिका हमारे पिण्ड के विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित करते हैं, जीवधारी भी उस प्रभाव क्षेत्र में आते हैं। इनसे होने वाला रासायनिक परिवर्तन लोक में अधिक व्यक्त होता है, व्यक्ति में कम किन्तु अग्नि का प्रभाव और व्यक्तित्व तो मनुष्य की अनिवार्यता है। वह हमारा भोजन पकाती है शीत से बचाती है, अनावश्यक-अनुपयोगी को समेटती है, इतना ही नहीं उसकी परिसीमा में देवता और पितर भी आते हैं, वह हमारा पवित्र विश्वास है हम उसे हव्यवाह कहते हैं, वैश्वानर कहते हैं। अग्नि जैसी प्राकृतिक क्रिया को इन विविध रूपों में देखने की योग्यता भारत की सूक्ष्मवादी चेतनता का चमत्कार है। अग्निदेव को विभिन्न प्रयोजनों के लिए विविध वस्तुएं अर्पित करने की विधि जितनी विलक्षण है उतनी ही सम्पूर्ण भी। हमारे यहां का कोई कार्य अग्नि के बिना सम्पन्न नहीं होता। अग्नि की इस व्यापकता को हम देव कहते हैं। निष्प्राण देह इसीके समर्पित किया जाता है, पितरों और अन्य देवताओं के निमित्त वस्तु इसी को सौंपी जाती है क्योंकि निश्छाय काया वाले देवता स्थूल पदार्थ को नहीं खा सकते, यह उस पदार्थ का पाचन करके उसे पवित्र एवं

देवताओं के भोग के अनुरूप बनाता है।

हमारे पूर्वजों की अनुसंधान शीलता कितनी श्रेष्ठ थी कि देह और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं अभिवृद्धि के लिए यज्ञ को माध्यम बनाया करते थे। किसी भी पदार्थ के जलाने पर उससे निकलती धूंआ में पदार्थ का गुण रूपान्तरित अवस्था में रहा करता है तथा उसमें पदार्थ के कण इतने सूक्ष्म रूप में रहते हैं कि वे शरीर में घुस जाते हैं। विश्व में बायोकेमिक विधि का आविष्कार भारत में हुआ था और इसकी पवित्र श्रेष्ठता को ही यज्ञ कहा गया था। यज्ञ दर्शन की सम्पूर्णता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि भारतीय ऋषि ने विविध द्रव्यों को होम कर उस धूम के सूंधने से होने वाले परिणामों का सम्यक् मूल्यांकन किया था। इस मूल्यांकन में हवन से संभावित हमारे स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के प्रभाव यत्किंचित् भी छुटे नहीं थे; हमें सन्तान चाहिए, सम्पत्ति चाहिए, रोग मुक्ति चाहिए, एक का वशीकरण, दूसरे से विद्वेषण चाहिए अर्थात् जो बहुत भी चाहिए वह सब यज्ञ पुरुष की क्षमता-कार्य विधि की सीमा में है। माना हमारी देह में स्थित मन संकल्प-विकल्प का कर्त्ता है फिर भी देह की रचना एवं भोजन आदि बाह्य पदार्थों से प्रभावित होता ही है। चिकित्सा विज्ञान का औषधि प्रयोग पदार्थों के देह सम्पर्क में आने पर उनके जैव रासायनिक प्रभावों व परिणामों का निष्कर्ष है। ये ही पदार्थ हमारी मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति भी कर सकते हैं यह सिद्धान्त हवन विधि का रहस्य है। किसी भी मंत्र की उपासना—जिसमें जैव भौतिक प्रक्रिया के माध्यम से हमारे अभीष्ट को सिद्ध करने का उपक्रम किया जाता है वह—हवन के बिना संपूर्ण नहीं होती और हवन की सम्पूर्णता ब्राह्मण भोजन के बिना अधूरी रहती है। हवन यज्ञ पुरुष की, अग्निदेव की अर्चना है और ब्राह्मण-भोजन से जीवन्त जठरानल का तर्पण होता है।

यह सारा आयोजन साधक के बाह्य व आभ्यन्तर को एक रूप करने का है। दोनों का रिजोनेंस मिलने की विधि है। उस युग में उदारचेता वर्ग सघन बस्तियों से दूर छोटे-छोटे आश्रमों के रूप में संघटित होकर समाज की स्वस्थता, वातावरण की स्वच्छता और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए वेद व वेदी के समर्पित था। अपने सस्वर वेद पाठ से वह अपशब्द के

दोषों का और घी तथा अन्य पदार्थों का हवन करके वायवीय विकारों का शमन किया करता था।

यज्ञ को भगवान कृष्ण अपनी सर्वोत्तम अवस्था बतलाते हुए कहते हैं—"मैं ही होता हूं, मैं ही हविष्य हूं और मैं ही भोक्ता हूं" अर्थात् संसार में जो कुछ हो रहा है वह विश्वरूप सर्वेश्वर का ही विस्तार है। "अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, वर्षा से अन्न उगता है, यज्ञ से वर्षा होती है और यज्ञ कर्म का फल है" गीत की यह उक्ति यज्ञ की सर्वाधार शक्ति का प्रमाण है। प्रकृति के अदृश्य कार्य व्यापार को सम्मान की दृष्टि से देखने पर ही यज्ञ का विलक्षण रूप समझ में आता है। गीता का दर्शन तो यज्ञ पद्धति का इतना विस्तार करता है कि उसमें हमारे जीवन का प्रत्येक कार्य एक प्रकार का यज्ञ हो जाता है।

तेजस् की तीन अवस्थाएं मानने वाला वेद सूर्य, चन्द्र, अग्नि के एकत्व को ही तीन अवस्थाओं में वर्गीकृत करता है और सूत्र रूप में जगत् को अग्नि सोमात्मक कहता है। संसार की सोमात्मकता में यज्ञ का वह रूप भी आ जाता है जिसमें तेजस् का दाहक रूप नहीं रहता वह प्रतिफलित अवस्था में चन्द्रिका बनकर स्वादपूर्ण गंध का कारक बनता है, उसे हम सोम तत्त्व कहते हैं। यह भी हमारी यज्ञ पद्धति से अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृति सोमयाग भी करती है।

मंत्र की आधुनिक अवस्था

मंत्र की शास्त्रीय व्याख्या करने के लिए हमें भारत के अतीत में चलना होगा। भारतीय ऋषियों के चिन्तन ने सृष्टि का रहस्य पा लिया था—इस तथ्य में सन्देह को कोई अवकाश नहीं है। आज हमारा प्राचीन साहित्य मिल नहीं रहा है। जो उपलब्ध है वह भी आधुनिक शिक्षा, सभ्यता एवं तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उपेक्षा का शिकार होता जा रहा है इसलिए उसके अधिक समय तक जीवित रहने की ही, आशा नहीं है, विकसित होने की—जीवनीय बनने की तो बात ही क्या।

सच तो यह है कि हमारा ज्ञान कर्ण परम्परा से चलता था। गुरु अपने ज्ञान को शिष्य को याद करा दिया करता था और शिष्य अपने शिष्य को। वेद को श्रुति कहने का और मनु की अथवा याज्ञवल्यक, पराशर आदि की सामाजिक व्यवस्थाओं को स्मृति कहने का कारण भी यही है कि ये श्रवण-स्मरण से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही थीं। इस सनातन रूप से चल रही ज्ञान की वैतरणी में हरेक विचारक ने अपनी ओर से भी जोड़ा पर अपना नाम जोड़ने के मोह से दूर रहा—यही आधार आज इस युक्ति के लिए प्रमाण बन रहा है कि व्यास एक ऋषि अवश्य थे पर उनकी शैली अधिक व्यापक थी। व्यास के नाम पर प्रचलित ज्ञान सरिता में हर पीढ़ी ने हर मनस्वी विचारक ने योगदान किया और व्यास को समर्पित कर दिया। यह ठीक ऐसा ही रहा जैसे हिमालय से चल रही पतली-सी धारा को सागर में मिलने तक मिलने वाली असंख्य जलधाराओं ने विशाल-विपुल बना दिया पर नाम उसका गंगा ही रहा। कर्ण परम्पर से आ रहे ज्ञान रूपी ब्रह्म-नद का प्रवाह मुद्रण कला के विकास के साथ क्षीण महत्त्व का हो गया। वर्षों पहले ऐसे व्यक्ति जिनको कई ग्रन्थ याद थे पर न उनको लिपिबद्ध किया गया न प्रकाशित किया गया

और वह उनके साथ ही सदा-सवर्दा के लिए चला गया। जो ज्ञान लिपिबद्ध कर लिया गया था उसका भी विनाश बहुत बड़ी मात्रा में हुआ। विदेशी आक्रान्ताओं ने बड़ी निर्ममतापूर्वक अमूल्य ज्ञान राशि की होली खेली, अथवा मूर्ख वंशधरों के कारण दीमक-चूहों का भोजन बन गया या अर्थलोभी उत्तराधिकारियों ने उसे अर्थलाभ का साधन समझ कर लोगों-कसाइयों — के हाथ बेच दिया। विदेशों में आज भी भारत के अमूल्य ग्रन्थ सुरक्षित या स्वरक्षित हैं। इसके साथ ही यह भी एक माननीय तथ्य रहा है कि भारतीय मनोवृत्ति से किसी भी ज्ञान की परम्परा बनाने की अपेक्षा पात्र-कुपात्र का दृष्टिकोण अधिक कट्टरता के साथ अपनाया। पात्रता का विचार यद्यपि शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक होता है फिर भी यह मानने लायक नहीं कि इतने बड़े देश में पात्रों की कमी रही हो।

रहस्य के ज्ञाता व्यक्तियों की क्षुद्र भावना ने शास्त्रों को ही अविश्वास एवं अव्यवहार का शिकार बना दिया। जहां परम्परा बनाकर उस विषय को जीवनदान देना चाहिए था, नवीकरण करना चाहिए था, विकसित होने देना चाहिए था, लोकहित को समर्पित कर देना चाहिए था, वहां ममत्व के वशीभूत होकर पात्र को देने में भी कृपणता दिखाई जिसका फलितार्थ हुआ—ज्ञान की सरिता अन्त:सलिला हो गई। आज की पीढ़ी के पश्चात्य प्रेमी होने का दोष ऐसी मनोवृत्ति वाली परम्परा को ही दिया जा सकता है अन्यथा हमारे प्रयोग ही व्यवहार से पोषित रहते तो भारत ही नहीं समस्त विश्व ज्ञान का सम्मान करता और भौतिकवादी जड़ विज्ञान आत्मवादी चेतन विज्ञान के साथ जुड़ा रहता तथा आज की यह व्यापक विसंगति केवल अनुमान का विषय बनी रहती।

आज मंत्र को शास्त्रीय स्तर से उतरकर अविश्वास की भूमि पर नहीं खड़ा होना पड़ता, वह हिमाचल के अपार विस्तार और अभ्रंकष उच्चता के साथ नमस्करणीय रहता तो आज की भारतीय पीढ़ी को इस विषय के समझने-समझाने के लिए इतनी कठिनता नहीं होती।

मंत्र चूंकि भारतीय विज्ञान है, इसलिए इसके मूल से लेकर विन्यास-विपाक तक भारतीय संस्कार, लोच-लहजा और विधि-साधना भारतीय वातावरण के ही प्रतीक होंगे। भारतीय आधार पर मंत्र शास्त्र का ज्ञान

करने के लिए हमारे पूर्व पुरुषों ने जो दिशा दर्शाई है वह आज की पीढ़ी के लिए भी अनिवार्य है, अतः ऋषियों के वचनों, आदेशों, अनुदेशों का विवरण विषय की सम्पूर्णता के लिए उपादेय सिद्ध होगा। संस्कृत देववाणी है और मंत्रों का निर्माण इसी भाषा में किया गया है। संस्कृत के सुर भारती होने का प्रमुख कारण है इसकी सार्थकता। विश्व की कोई भी भाषा इतनी सक्षम नहीं है कि उसमें प्रतीक के तीनों आयाम मुखर हो जाते हों। संस्कृत इस दृष्टि से समृद्धतम और सर्वाधिक क्षमता सम्पन्न है। संस्कृत का प्रत्येक शब्द अपने आपमें जीवन्त प्रतीक है, मुखर अस्तित्व है। संस्कृत शब्दों का अर्थ स्वतः प्रमाण है, यौगिक अथवा व्याकरण सिद्ध शब्दों का अर्थ उनके विश्लेषण एवं व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है। मंत्र शब्द का तात्त्विक अर्थ जान लेने से रहस्योद्‌घाटन हो जाएगा इसलिए सर्वप्रथम हम यह जान लें कि मंत्र शब्द की रचना किस प्रकार हुई।

मंत्र क्या है ?—मंत्र शब्द मंत्रि गुप्त भाषणे धातु से धम् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। मंत्र शब्द अच् प्रत्यय से भी सिद्ध होता है पर उसका अर्थ होता है सलाह। इस मंत्र का अर्थ होता है रहस्य, वह रहस्य जो दिवेचित है पर अनुभव का विषय है और जिसे सार्वजनिक रूप से व्यवहार का विषय नहीं बनाया जाता। आज तक का युग मंत्रपद प्राप्त शब्दावली को न गीत के रूप में गेय बना सका, न संभाषण के लिए मुहावरा जैसा रूप दे सका, क्योंकि मंत्र सदा से गोप्य रहा है। मंत्र के लिए गोपन पहली शर्त है जिसे प्रत्येक शास्त्रकार दोहराता है।

तांत्रिक परिभाषा—तंत्र शास्त्र के अनुसार मंत्र वह शब्दावली है—जो किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए जप का विषय बनती है। मुख्यतः मंत्र व्यक्ति की शक्ति का उद्दीपन करते हैं अथवा किसी गुरुतर शक्ति से याचना करते हैं। स्वयं व्यक्ति की शक्ति के जागरण से अथवा विश्व की नियामक शक्तियों के प्रति आस्था व्यक्त करने से जप या मंत्र का साध्य स्पष्ट हो जाता है। मनु महाराज इस शास्त्र के लिए कहते हैं कि जिसका गर्भाधान से लेकर श्मशान तक का संस्कार मंत्रों से होता है वही मंत्र का अधिकारी है। यह बात उस जमाने की है जब वर्ण-व्यवस्था बड़ी कड़ाई के साथ लागू थी। समय की परिवर्तनशीलता के कारण आज इस तथ्य में

उतना बल नहीं रह गया फिर भी शास्त्रीय मर्यादा के रूप में यह पालनीय अवश्य है। इस मर्यादा के कारण द्विज से इतर जातियों के लिए मंत्र उपयोगी नहीं हैं—यह बात नहीं है। सिद्ध सम्प्रदाय ने, शक्ति की उपासना करने वाले वाम-मार्गियों ने तथा मंत्र शास्त्रज्ञों ने ऐसे सरल-सुगम रूप में मंत्र शास्त्र को वर्ण मर्यादा से ऊपर उठाकर सर्वजनोपयोगी रूप दे दिया है कि यह विषय किसी वर्ग विशेष के लिए ही साधना—अनुभव का विषय नहीं रहा। उन उदारचेता स्वनाम धन्य पवित्रतमाओं को शत-शत प्रणाम है। मंत्र, तंत्र और यंत्र तात्त्विक रूप से भिन्न वस्तु नहीं है बल्कि एक ही सत्य के तीन प्रकार हैं, एक शक्ति के तीन रूप हैं। मंत्र का चित्रात्मक रूप यंत्र हैं तो मंत्र के भौतिक उपकरणों का अनुपान एवं स्थूल-पदार्थाश्रयता तंत्र है। बहुत वर्षों पहले एक व्यक्ति ने विश्व की विभिन्न भाषाओं के अक्षरों का खोखला ढांचा बनाकर उनको बजाया। प्रयोग का फल आश्चर्य-जनक था, केवल देवनागरी लिपि के अक्षरों से निकलने वाली ध्वनि ही उन अक्षरों के वाचिक उच्चारण जैसी थी शेष किसी भी भाषा के वर्णों में यह विशेपता नहीं थी। भापा के इस सत्य का सचित्र वर्णन यदि यंत्र शास्त्र करता है तो यह न अवैज्ञानिक है न निराधार। मंत्र जो कार्य ध्वनि के और भावना के माध्यम से करता है वही तंत्रों में औषधों व इतर द्रव्यों से सम्पन्न हो सकता है और यंत्रों का सचित्रता से, रेखांकन से हो जाता है। किसी व्यक्ति को कोई बात समझ में न आए तो चित्र द्वारा और शाडल्स द्वारा समझाने की विधि आज भी व्यवहार में है। औषधियां देह की व्याधियों में काम करती हैं, वे ही जब सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालने के लिए काम में लाई जाती हैं तो वशीकरण अथवा उच्चाटन जैसा काम करती हैं। यह उन पदार्थों के उपयोग और विधि का परिणाम है।

मंत्र और देवता—मीमांसा दर्शन से अनुसार मंत्र देवता का ही स्वरूप है। जिस देवता का जो मंत्र है वही उसका स्वरूप है। मंत्र से पृथक् देवता का अस्तितत्व नहीं है। ऐसा आज तक किसी शास्त्र में देखने-सुनने को नहीं मिला कि देवता हो और मंत्र नहीं हो। प्रथम अध्याय में मिट्टी की तश्तरी पर संगीत लहरियों के उभरने के प्रयोग से मीमांसा दर्शन की उक्त स्थापना की पुष्टि हो जाती है। मंत्र की शब्दावली का यान्त्रिक

आधार पर बनाया गया चित्र तत-तत् देवता का भौतिक आकार है। एक ही सागर का जल तत्त्व भिन्न-भिन्न स्थानों पदार्थों में जाकर विविध रूप ग्रहण कर लेता है। समस्त संसार के शक्ति के रूप में व्याप्त परम सत्ता कार्याश्रयी देवताओं के रूप में अनेकरूपा हो जाती है। शंकर एक ही शक्ति का नाम है पर स्थान भेद से रुद्र का स्वरूप भी वही बन जाता है। स्थान एवं उद्देश्य भेद से पराशक्ति की विविध रूपों में उपासना की जाती है। यहीं से बहुदेववाद की विचारधारा जन्म लेती है किन्तु इससे परमेश्वर की सत्ता या स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि प्रतीकों के रूप में स्थान भेद से कल्पित वह तत्त्व परमार्थतः एक है विभु है। स्तुति करने के विशेषण देवता का स्वरूप नहीं हो सकते, उनको मंत्रों का स्तर नहीं दिया जाता। मंत्र स्वतन्त्र और पूर्ण वस्तु हैं, उनसे भिन्न स्वरूप का देवता अस्तित्व में नहीं हैं। इसी दृष्टिकोण से आह्निक तत्त्व कहता है—मनन से त्राण करता है इसलिए मंत्र कहा जाता है। मंत्र की यह व्युत्पत्ति मीमांसा दर्शन के अधिक निकट पड़ती है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार देवता मंत्र ही होता है अथवा मंत्र ही देवता होता है। आराध्य देवता की पूजा मंत्र के पाठ से ही संभव है, स्तुति गीत से नहीं। स्तुति तो देवता के प्रतीक का खण्ड ज्ञान होगी, मंत्र सम्पूर्ण ज्ञान होगा। वेद इसीलिए पृथक्-पृथक् देवताओं के भिन्न-भिन्न मंत्र बतलाता है।

मंत्र भौतिक सिद्धि और मोक्षप्रद है—भारतीय ऋषियों ने संसार को दुःख का आगार माना है। मायामोह को संसार सागर का आवर्त माना है। सारे प्राणिजात इस आवर्त में फंस रहे हैं। हर सुख दुःखान्तिक सिद्ध होती है। इन्द्रियों के सुखदायी, मन के रुचिकर, संस्पर्शजनित भोगों का विपाक हमेशा दुःखयोनि रहता है। ममता, अहंकार, लोभ, ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, आसक्ति आदि सारी भावनाएं ही संसार हैं और इनकी प्रतीति-प्रीति व्यक्ति को बांध लेती है। मकड़ी की तरह व्यक्ति अपने ही जाल में कैद रहना पसन्द करता है। जीवन, मरण को निश्चित करता है और मरण, जीवन का विश्वास दिलाता है। भारत की यह खोज समस्त संसार के रहस्य का पर्दा उठा देती है। व्यक्ति उस स्थिति को पाने की लालसा

रखने लगता है, जो बन्धन नहीं मुक्ति है, जड़ नहीं चेतन है, तमस् नहीं ज्योति है। सांसारिक चक्र में फंसे जीव पर तरस खाकर भारतीय ऋषियों ने पराशक्ति की उपासना की विधि बताई है गुणातीत परब्रह्म का कोई विग्रह नहीं हो सकता, इसलिए उस विभु का शब्द के रूप में साक्षात् करने का उपाय विश्व को बतलाया है। भगवान के परब्रह्म के अर्चन का प्रकार विभिन्न शास्त्रों में विविध रूपों में बताया गया है पर शब्द ब्रह्म के रूप में वह अनेकत्त्व में भी एकत्त्व के रूप में ही प्रतिस्थापित है।

वेदान्त जैसे शास्त्रों में सांसारिक दुःखों से त्राण पाने के लिए निर्गुणोपासना एवं ज्ञानयोग के उपाय बताए गए हैं। उपासना की प्रतीकहीन प्रणालियों द्वारा आत्मदर्शन संभव हो सकता है, किन्तु वह श्रवण मनन-निदिध्यासन का प्रयोग सांसारिक जाल में फंसे दुर्बल व्यक्ति के लिए दुष्कर रहता है। हर व्यक्ति में सांसारिक आसक्ति और जीवन का यथार्थ बोध इतना प्रबल होता है कि वह अपूर्व की उपासना करने में अपने आपको अक्षम मानता है और ऐसा मानना अव्यावहारिक भी नहीं है। दुर्बल व्यक्तियों की अक्षमता को देखकर सदय ऋषियों ने सगुणोपासना की विधि समझाई। विराट् को कार्यानुसार खण्ड बोध करके सहज स्वीकरणीय एव सुसाध्य बनाया। सगुणोपासना की शास्त्रों में बहुत प्रशंसा की गई है।

मंत्रोपासना ही सगुणोपासना है—सगुणोपासना का अर्थ मूर्तिपूजन मात्र ही नहीं होता। मंत्र के स्वरूप के अनुसार देवता के स्वरूप की कल्पना को भौतिक आधार देना एक बात हो सकती है, पर वह सगुणोपासना नहीं है। सगुणोपासना का वास्तविक अर्थ है—मंत्रोपासना, क्योंकि मंत्र में आकाश की शब्द गुणकता है और वह आकाश है विराट् का प्रतीक, पूर्ण पुरुष का अरूप रूप। मंत्राधारित सगुणोपासना सभी मंत्रों में आदरणीय है। श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र आदि सारे शास्त्रों में मंत्रों का उल्लेख है, उनके अपने मंत्र हैं। संसार की अनिवार्य दुःखयोनिता से मुक्ति पाने के लिए सगुणोपासना मंत्र के द्वारा ही संभव है, तथा लौकिक सिद्धियों के लिए भी मंत्रों की आराधना फलदायक होती है। मंत्र साधन, जप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि से व्यक्ति के मन पर लगे कालुष्य दूर होते हैं। कालुष्य दूर होने से मन निर्मल होता है और निर्मल मन अन्तर्मुख होकर अपने

जीवात्मा में निहित विराट् को पहचानता है। यही परिचय भेदनाश करता है और भेदनाश से भौतिक सुख-दु:खों के द्वन्द्व का नाश हो जाता है।

तान्त्रिक मंत्र श्रेष्ठ है—सगुणोपासना की विधि में मंत्र का महत्व स्पष्ट हो चुका। मंत्रों का मूल उद्गम वेद हैं। वेद आज के युग में इतने दुरूह हो गये हैं कि उन मंत्रों का अर्थ ही समझ में नहीं आता। दूसरी बात यह है कि वेदमंत्र जितने अधिक शक्ति सम्पन्न और पवित्र हैं उनकी साधना भी उतनी ही कष्टकर है। और यह आज के व्यक्ति की सामर्थ्य से परे की बात हो गई है कि वह वेद मंत्रों की उपासना शास्त्रोक्त विधि से कर पाए। वैदिक उपासना आज के व्यक्ति के लिए अतीत का विषय हो गई है, इसलिए वे मंत्र भी लुप्त प्राय: से होते जा रहे हैं, कम-से-कम अनुष्ठान के क्षेत्र में। त्रिकाल दृष्टा ऋषियों ने इस युग की कल्पना करके कलियुग में वेदमंत्रों पर कील ठोंक दी थी। आज वेदोक्त मंत्रों के स्थान पर तन्त्र शास्त्र के मंत्र ही अधिक प्रचलित हैं, वे ही युगानुरूप हैं।

तंत्र का अर्थ केवल औषधि प्रयोग नहीं है। तनु विस्तारे धातु से निष्पन्न तंत्र शब्द का अर्थ है विस्तार, तकनीक। मंत्र का गुप्त भाषण विस्तृत विवेचन का, समयानुकूल भाष्य का विषय बना, दुरूहता समाज की बुद्धि लब्धि के अनुसार सरलीकरण की विधा में ढली तो तंत्र का आविष्कार हुआ। तंत्र में औषधि प्रयोग की स्वतन्त्र विधि थी, साथ ही शब्द ब्रह्म का प्रतीक मंत्र भी यथोचित सम्मान का प्रतीक बना रहा। मोटे तौर पर यही तंत्रोक्त मंत्रों का इतिहास है।

वेद मंत्रों में उपासना का या मंत्र के रहस्य तथा विधि का उल्लेख किसी ऋषि के नाम पर नहीं है, क्योंकि वह स्वयंभू ज्ञान है। वेद प्रभु वचन की तरह अनुशासन करता है। स्वत: प्रमाण को किसी आधार की आवश्यकता नहीं रहती इसलिए वह स्वत: प्रभूत सरिता के वेगवान् प्रवाह की तरह मार्ग का निर्माण-निर्धारण करता चलता है। तंत्र की विधि भिन्न प्रकार की है। किसी भी विधि का निर्देश करने के लिए तंत्र आदि देव, शिव एवं पराशक्ति शिवा के पुण्य स्मरण से चलते हैं। प्राय: अधिकांश तंत्र और शिवा के सम्वाद से प्रारम्भ होते हैं। मूल रूप में शिव-पार्वती का संवाद चलता है, उसमें उपासना की विधि और मंत्र-साधन का प्रकार 'संजय

उवाच' की शैली में प्रतिपादित रहता है। कलियुग के मंत्रों और उपास्य देवताओं का वर्णन प्रत्येक तंत्र करता है। ऋषियों के आदेश, शास्त्रीय मर्यादा और व्यवहार सिद्ध आधार पर तंत्रोक्त मंत्रों की साधना सुकर है। आगम मंत्रों की सरलता पर महानिर्वाण तंत्र के द्वितीय उल्लास में लिखा है—

"हे पार्वती! कलियुग में तंत्रशास्त्र-आगम की उपासना-विधि के सिवा कोई दूसरी गति नहीं है। इस बात को श्रुति, स्मृति और पुराणों के माध्यम से मैंने (शिव ने) पहले ही समझा दिया है। बुद्धिमान व्यक्ति तंत्रोक्त विधि से देवताओं की अर्चना, अभ्यर्थना, उपासना करे। जो व्यक्ति कालिदास में तान्त्रिक विधि का परित्याग करके दूसरे किसी प्रकार से देवता तथा मंत्र की साधना-उपासना करता है उसकी गति नहीं होती है। उसकी उपासना व्यर्थ जाती है, यह सत्य है, सत्य है—इसमें सन्देह नहीं है। कलियुग में तंत्रशास्त्र विहित मंत्र ही सिद्ध हैं और तुरन्त फल देने वाले हैं। सब कामों में, जप में, यज्ञ में तांत्रिक विधि ही प्रशस्त है। इस युग में वेद मंत्र वैसे ही निष्फल हैं जैसे कोई विषहीन सर्प। इसमें कोई संदेह नहीं कि वेद मंत्र सत्य-युग में उपासना योग्य और फलप्रद थे, किन्तु आज के युग में वे दीवाल पर लिखे सावयव चित्र की तरह निष्प्राण हैं, वन्ध्या स्त्री के समागम की तरह निष्फल हैं। उनसे केवल श्रम ही होता है, फल प्राप्ति नहीं होती। कलिकाल में दूसरे मार्गों से जो व्यक्ति सिद्धि प्राप्त करना चाहता है वह उस मूर्ख की तरह है जो गंगा के किनारे पर प्यास बुझाने के लिए कुंआ खोद रहा है। तंत्रोक्त मार्ग से भिन्न कोई उपासना विधि इस युग में है ही नहीं। इस विधि से व्यक्ति इहलोक सुख प्राप्त करता है तथा परलोक में मुक्ति लाभ करता है।"

ऋषियों के उक्त प्रकार के अनुशासन में वेद का परिवाद नहीं है न ही तंत्र का कोरा अर्थवाद है प्रत्युत शक्ति को व्यवहार योग्य बनाने की चेष्टा है। आधुनिक इतिहासकार की परिकल्पित स्थापना के अनुसार पाषाण युग और धातु युग भी व्यक्ति के लिए व्यवहार के विषय रहे हैं। पाषाण युग का व्यवहार आज के लिए असत्य लग सकता है पर वह किसी पीढ़ी के लिए आदरणीय एवं व्यवहार योग्य रहा था। वस्तुतः मानव जीवन की

गतिशीलता निरन्तर विकसित होते रहने की प्रामाणिक कहानी है और प्रत्येक शती अपनी पूर्व शती को अविश्वसनीय लगती है तथा अनागत शती अकल्पित होती है। इस परिवर्तनशीलता में एक सत्य ही विभिन्न रूप में अनुभव किया जाता है। इस सत्य को जीव और ब्रह्म का एकत्व कह सकते हैं, तत्वों की माया मान सकते हैं अथवा शक्ति का विलास बता सकते हैं। इस सबके बावजूद भी इतना अवश्य है कि वेद शास्त्र विहित मंत्र और उपासना के प्रकार नितान्त कष्ट साध्य हैं। मंत्रों को निष्फल बताने का यह अर्थ किसी भी रूप में नहीं है कि वेदमंत्रों में शक्ति नहीं है अथवा उनकी शक्ति निर्जीव हो चुकी है बल्कि इसका वास्तविक आशय यह है कि आज के व्यक्ति में न उतनी पवित्रता है, न धैर्य है, न शक्ति ही। रोगी की बीमारी असाध्य होती है, इसलिए भी असाध्य कह दी जाती है तो उसकी चिकित्सा के लिए औषधि अलभ्य होने पर भी असाध्य बन जाती है। असाध्य अवस्था एक तरह का परिणाम है, परिणाम की पृष्ठ भूमि कुछ भी हो सकती है। वेद मंत्रों की मृत अवस्था का कारण भी कलियुगी व्यक्तियों की असमर्थता ही है अन्यथा सत्य कभी मरता नहीं है, तत्व कभी शक्तिहीन नहीं हुआ करते।

मंत्र और गुरु—वैदिक उपासना तथा वेद मंत्रों की साधना में पूर्व सावधानताओं को सविशेष महत्त्व दिया गया है। उदाहरण के लिए साधक को ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य में से कोई एक होना चाहिए। ब्राह्मण भी यदि यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत नहीं है तो उसे मंत्र दीक्षा का अधिकार नहीं है। ऐसी बहुत सारी पाबन्दियां वेद मंत्रों के साथ लगी हुई हैं। तंत्र शास्त्र के मंत्र इतनी जटिलताओं से मुक्त हैं। उन पर सबका समान अधिकार है। साधना चाहे वेद मंत्र की हो या आगम मंत्र की, उसमें गुरु का स्थान सबसे पहले और सबसे बड़ा है। गुरु से प्राप्त मंत्र ही विधिवत् साधना करने पर फलदायक रहता है। गुरु की इस महत्ता को आज का तथा आज तक का युग स्वीकार करता आया है। युग ने इस पद के नामों का ही परिवर्तन किया है, कार्य, महत्व और स्थान का परिवर्तन नहीं किया। किसी भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु सर्वाधिक प्रामाणिक एवं आवश्यक व्यक्ति हुआ करता है। मंत्र चूंकि टैक्नीकल विषय है, सचेतन विज्ञान है

इसलिए गुरु का स्थान और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

गुरु मंत्र की धुरी है। मंत्र शास्त्र से सम्बद्ध तथा इतर ग्रन्थों में गुरु का महत्त्व और लक्षण बड़े विस्तार से बताया गया है। योग्य गुरु से ग्रहण किया गया मंत्र कल्याणकारी एवं फलदायक होता है और उससे साधक सुख प्राप्त करता है। गुरुपद के लिए उपयुक्त व्यक्ति में क्या गुण होने चाहिएं इस विषय पर शास्त्रीय अनुशासन व मर्यादा का यहां विस्तार से विवेचन करना सामयिक एवं प्रासंगिक रहेगा।

गुरु कैसा हो ?—चार वर्णों में ब्राह्मण ही मंत्र देने का अधिकारी है। विश्वासार तंत्र के द्वितीय पटल में गुरु के पद के योग्य ब्राह्मण के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"जो ब्राह्मण सत्यवादी है, जितेन्द्रिय है, शान्त मन वाला है, माता-पिता की सेवा करता है, नित्य नैमित्तिक कर्म करता है, अपने आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ अथवा संन्यास) में निष्ठित है और अपने देश में निवास करता है, वही गुरु बनने योग्य है, उससे मंत्र की दीक्षा ली जा सकती है।"

गुरु अथवा शिष्य में सत्यवादिता, जितेन्द्रियता, शान्त मनस्कता आदि का होना व्यवहार एवं अनुभव की दृष्टि से आवश्यक है। ये सब कायिक एवं मानसिक तपस्याएं हैं। असत्य भाषण से, इन्द्रियों पर संयम नहीं रखने से व्यक्ति के मन पर भार बढ़ता है और मन के दूषित रहने से मंत्र का पवित्र वातावरण नहीं बन पाता है। मंत्र की साधना मन से सीधा सम्बन्ध रखती है, अतः कायिक, वाचिक एवं व्यावहारिक शुचिता तथा निश्छलता व्यक्ति को मंत्र की आत्मा का, मंत्र स्वरूप देवता का दर्शन—प्रसाद कराने—दिलाने में अत्यधिक सहायक बनती है।

गुरु के गुणों का वर्णन करते हुए तन्त्रसार कहता है—

दमन व शमन—"शान्त (इन्द्रियों के विषयों में अतिशय उत्कट रूप से अनासक्त) दमनशील। शान्त और दान्त शब्द भारतीय साधना विधि में बहुतायत से प्रयोग किए जाते हैं। चेतनवादी विज्ञान में इन शब्दों की आवश्यकता भी पदे-पदे अनुभव होती है, इसलिए इन शब्दों के रहस्य को समझ लेना समीचीन रहेगा। हमारा देह पंच महाभूतों से निर्मित है।

इसके लिए संग्रह भी धर्म है तो विसर्ग भी। संग्रह से इस देह का पोषण होता है, विसर्ग से प्रसन्नता प्राप्त होती है। लोभी को जिस तरह संग्रह से सुख मिलता है, वैसे ही त्यागी को विसर्ग से आनन्द की अनुभूति होती है। यथार्थ रूप में संग्रह-त्याग का और परिग्रह-विसर्ग का ही रूप है। एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। हमारे शरीरगत इन्द्रियों के विषय इन परिग्रह-विसर्ग की सीमा में आते हैं। देह की दसों इन्द्रियां चाहे वे प्राप्यकारी हैं—वहां जाकर काम करने वाली जैसे चक्षु, मुख, हाथ, पैर, उपस्थ आदि अथवा अप्राप्यकारी हैं—बिना कहीं गए ही कार्य करने वाली जैसे कान, नाक, त्वचा, गुदा आदि इस संग्रह-विसर्ग के माध्यम से ही बाह्य जगत् से बंधी हुई हैं। शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति और ऐन्द्रिय विषयों की नैसर्गिक अपेक्षा के कारण ये संग्रह-विसर्ग जीवित हैं, व्यक्ति की इन्द्रियां इनसे सम्बद्ध है। काम वासना उत्कट विसर्ग भावना ही है। वेद शास्त्रीय उपासना दमन में विश्वास करती है। यम-नियम, व्रत-उपवास-विग्रह आदि द्वारा इन्द्रियों को अन्तर्मुख किया जाता है। दमन का यह मार्ग वासना के उद्भव को ही समाप्त कर देने में विश्वास रखता है, शरीर की स्वाभाविक विषयाशक्ति को, मन की उच्छृंखल निम्न गति को कठोर दमन से नियमित करने का अर्थ ही दमन है। शान्त और शमन इससे कुछ भिन्न प्रतीति वाले शब्द हैं। दात और शान्त एक उपलब्धि है, पर दमन और शमन उसकी पृष्ठभूमि है। दमन में आवेश को दबाया जाता है, शमन में आवेश को प्राकृतिकता मानते हुए उसे उचित रीति से, न्याय विधि से, सामाजिक स्तर पर शमन करने का आशय है। आवेश की उपेक्षा नहीं करते हुए, इन्द्रियों की विषयासक्ति को स्वाभाविक आकांक्षा का सम्मान देते हुए आवेशों की परितृप्ति को शमन कहते हैं। जो व्यक्ति जागतिक भोगों को देह धर्म के रूप में, बिना उत्कट अभिलाषा के शास्त्र तथा सामाजिक अनुशासन में रहकर भोगता है वह शान्त कहलाता है।

शान्त और दान्त समन्वयवादी मार्ग हैं। हिंसा, स्तेय, असूया, व्यभिचार जैसे अपकर्मों के प्रति व्यक्ति को दमन का मार्ग अपनाना चाहिए तथा देह की बुभुक्षा-अनिवार्य परिग्रह-बुभुक्षा के प्रति स्वस्थ एवं शास्त्रोचित विधि के द्वारा प्राप्ति-तुष्टि का मार्ग अपनाना चाहिए।

तंत्र शास्त्र की दृष्टि में युग एवं व्यक्ति की क्षीण क्षमताओं के अनुरूप समन्वयकारी मार्ग ही प्रशस्त है, अत: गुरु पद योग्य व्यक्ति को ही नहीं, दीक्षा लेने वाले साधक को भी सांसारिक पदार्थों के प्रति न अतिशय असक्ति रखनी चाहिए, न प्राकृतिक आवश्यकताओं के प्रति अतिशय अरुचि का अस्वाभाविक दमनकारी रुख ही। ये प्रारंभिक स्थितियां हैं, जिनका अभ्यास करने पर व्यक्ति स्वत: ही अन्तर्मुख हो जाता है, उसे न शमन की आवश्यकता रह जाती है न दमन की। ऐन्द्रिय विषयों किंवा जागतिक भोगों के प्रति कठोर दमनकारी वृत्ति रखने से व्यक्ति के पतन की आशंका बनी रहती है। पौराणिक उपाख्यानों में ऋषियों के तपस्या भंग होने का कारण इसी अति कठोर दमन मार्ग को माना गया है। अतिशय विषयासक्ति साधना तो दूर सामान्य व्यक्ति के लिए भी अमंगलकारिणी होता है अत: तंत्रोक्त शान्त और दान्त गुण समन्वयवादी हैं और युगानुकुल भी।

गुरु के अन्य गुणों में आते हैं कुलीनता। कुलीनता शब्द में दोनों अर्थ हैं। कौल भी और उच्चकुल में उत्पन्न भी। वाममार्गी विचारधारा वालों के लिए गुरुकौल होना चाहिए। सामान्य स्थिति में गुरु को ब्राह्मण होना चाहिए। कुलीन हो, नम्र हो, (अभिमानी गुरु के मत्र का सत्व क्षीण हो जाता है तथा अभिमानी प्रमादी भी होता है और प्रमाद मंत्रोपासना में सबसे बड़ा दोष होता है। अभिमानी खुशामद-परस्त और अविवेकी होता है, इसलिए गुरु में विनयशीलता परमाश्यक गुण है) स्वच्छ वस्त्र वाला हो, पवित्र आचरण वाला हो, मंत्र की साधना एवं सिद्धि में उसकी ख्याति हो, पवित्र हो, चतुर हो, बुद्धिमान हो, आश्रमनिष्ठ हो, और ध्याननिष्ठ हो, तंत्र एवं मंत्र कार्य में निष्णात् हो, सांसारिक भोगों और ऐन्द्रिय विषयों के प्रति नियंत्रण रखने वाला तथा कृपालु हो और निन्दा-स्तुति से अप्रभावित रहने वाला हो। ऐसा व्यक्ति मंत्र दीक्षा देने योग्य होता है।

गुरु के इसी विवेचन में स्थानान्तर पर लिखा है कि जो मन्त्र प्रदान करके कल्याण कर सकता हो तथा अभिशाप देकर मंत्र को निष्फल बना देने की योग्यता रखने वाले गृहस्थी, सत्यवादी श्रेष्ठ ब्राह्मण गुरु बनने लायक हो सकते हैं। मंत्रदान और मंत्र नाश को गुरु की सिद्धि का प्रतीक

माना गया। जो व्यक्ति देने और लेने में समर्थ है उसी की क्षमता सम्पूर्ण है अर्थात् उस व्यक्ति को वह मंत्र सर्वार्थ में सिद्ध है और सिद्ध व्यक्ति से लिया हुआ मंत्र ही सार्थक होता है। इस दान और आदान का कल्याण प्रतिपाद्य और विनाश का प्रतिपाद्य गुरु की शक्ति सम्पन्नता ही है, अन्यथा गुरु के प्रति अगाध आत्मीयता रखता है निश्छल स्थान रखता है, अहेतुक कल्याण की कामना रखता है।

निन्दित गुरु—तंत्र ग्रन्थों में निन्दित गुरु के लक्षण भी बताए गए हैं। अधोलिखित गुण, स्वरूप वाले व्यक्ति शास्त्र के वचनानुसार गुरु-पद के लिए अथवा मंत्रदान करने के लिए वर्जित हैं, अतः दीक्षार्थी को देख लेना चाहिए कि जिससे वह मंत्र ग्रहण करने जा रहा है। उसमें ये दोष तो नहीं हैं।

सूर्यमुखी (बिल्कुल सफेद रंग वाला) कोढ़ी, आंखों की बीमारी वाला, बौना, खराब नाखून वाला, काले दांत वाला, स्त्रियों के वशीभूत रहने वाला, अधिक अंग वाला, कम अंग वाला, (काना, लंगड़ा आदि) कपट करने वाला, रोगी, अधिक खाने वाला, ज्यादा बोलने वाला, जिस पर किसी का शाप हो, जिसके सन्तति पुत्रादि न हो, शरीर और व्यवहार में जो निकृष्ट हो धूर्त हो, नित्य नैमित्तक कार्य नहीं करता हो, मूर्ख हो, बामन हो, गुरु निन्दा करने वाला हो, रक्त-विकार का रोगी हो, गर्विष्ट हो अथवा ईर्ष्यालु हो, ऐसे व्यक्ति को गुरु नहीं बनाया जाना चाहिए।

टिप्पणी—शास्त्र के इस प्रकार के अनुशासन में स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं, फिर भी आज के व्यक्ति के लिए शास्त्र वचन के प्रति उत्पन्न होने वाले 'क्यों' का उत्तर आवश्यक हो जाता है, अतः इस प्रश्न भूत शंका के निवारण में निवेदन है कि जिन व्यक्तियों को गुरु-पद के लिए निन्दित माना गया है उसके तीन कारण हैं। पहला कारण है उस व्यक्ति के पूर्व जन्म के पाप और अपवित्रताएं। भारतीय विश्वास के अनुसार (जिसे ऋषियों के तत्त्वज्ञान ने पुष्ट कर दिया है।) रोग, अधिकांगता, न्यूनांगता, सन्तानहीनता आदि ऐसे दोष होते हैं जो व्यक्ति को पूर्व जन्म के दुष्कृतों के फलस्वरूप मिले हैं अतः वे पूर्णतया शुद्ध निर्मल नहीं हो सकते, उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे अपने मंत्र द्वारा

किसी का कल्याण कर सकें। उनको पहले अपने पूर्व जन्मार्जित दुःखों को भोग करके नष्ट करना चाहिए।

गुरु के निन्दित होने का दूसरा कारण है व्यक्ति की स्वार्जित दुष्प्रवृत्तियां। इस जन्म में सब कुछ पूर्व जन्म का ही नहीं होता, इस जन्म का भी होता है। व्यक्ति की स्थिति बहुत कुछ उसके हाथ के जैसी होती है। हाथ जिस तरह खुला है, लेकिन हर अंगुली और अंगुली का हर पोर बंधा हुआ है, एक-दूसरे से जुडा हुआ है। उसी तरह व्यक्ति अपने प्रारब्ध से, पूर्व जन्म में अर्जित कर्मबन्धन से जुडा हुआ है तथा हाथ की मुक्त स्थिति के समान वर्तमान में मुक्त है। व्यक्ति को सत्कर्म या दुष्कर्म करने से कोई भी नहीं रोकता, वह चाहे जिस मार्ग पर चलने के लिए स्वतंत्र है। ऐसी स्थिति में जिस व्यक्ति पर पूर्व जन्म के पाप कर्मों का भार नहीं है, किन्तु जो अपनी प्रवृत्तियों के कारण शुद्धाचरण वाला नहीं है वह भी निन्दित है, गुरुपद के लिए उपयुक्त नहीं है। स्वयं के आचरण से अपवित्र होने वाला व्यक्ति ईर्ष्या, अभिमान, गुरुनिन्दा, स्त्रीजितता, बातूनीपन, अति भोजन, मूर्खता, धूर्तता आदि दोषों से पहचाना जा सकता है। जिनका वर्तमान दूषित है वे व्यक्ति निन्दित हैं, अतः गुरुपद के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

तीसरा कारण है गुरु के निन्दित होने का किसी प्रबल व्यक्ति के द्वारा उसकी शक्ति का नाश, उसकी सिद्धि को अर्थहीन कर देना। व्यक्ति के स्वार्जित दोषों के कारण ही मंत्र और गुरु निःसत्व नहीं होते किसी प्रबलतर व्यक्ति के प्रभाव अथवा अकृपा के कारण भी प्रभावहीन हो जाते हैं। ऐसी परिभाषा में अभिशप्त और निःसन्तान व्यक्ति आते हैं। अभिशप्त का अर्थ और सम्बन्ध तो सीधे किसीकी अकृपा से सम्बन्ध रखता ही है पर सन्तानहीनता का कारण भी अधिकतया अभिशाप ही होता है, अतः अभिशापग्रस्त व्यक्ति गुरुपद की गरिम के अनुरूप नहीं हुआ करता।

गुरु की महिमा—गुरु एवं मंत्र का विश्लेषण करते हुए तान्त्रिक शास्त्र कहते हैं—

"गुरु में मनुष्य बुद्धि रखने वाला (भारतीय दृष्टिकोण गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म का स्वरूप मानता है) मंत्र में अक्षर

बुद्धि रखने वाला, देव मूर्तियों को पत्थर समझने वाला नरकगामी होता है। माता-पिता जन्म के कारण बनते हैं इसलिए उनकी पूजा-सुश्रूषा करनी चाहिए, किन्तु इनसे भी अधिक गुरु की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि गुरु धर्म और अधर्म का ज्ञान कराता है। गुरु पिता है, गुरु माता है, गुरु देवता है और गुरु ही गति है। शिव के रुष्ट होने पर गुरु बचा सकता है, गुरु के रुष्ट होने पर शिव भी नहीं बचा सकता। मन, वचन और कर्म से गुरु का हित करना चाहिए, गुरु का अहित करने से विष्ठा का कीड़ा होता है। पिता शरीर देता है और गुरु ज्ञान देता है किन्तु शरीरदाता पिता से बड़ा ज्ञानदाता गुरु होता है। गुरु से बड़ा कोई भी नहीं होता। जिसके मुख से निकलने वाला शब्द ब्रह्म व्यक्ति को नरक सागर से और संसार समुद्र से तार देता है, उस गुरु से बड़ा कोई भी दूसरा नहीं है। गुरु प्रदत्त मंत्र के त्याग से मृत्यु होती है और गुरु के त्याग से आर्थिक, शारीरिक एवं बौद्धिक विपन्नता होती है तथा गुरु और मंत्र दोनों के परित्याग से व्यक्ति रौरव नरक में जाता है। गुरु सबसे बड़ा देवता है। मंत्र के देवता का निर्देश भी गुरु ही किया करता है इसलिए गुरु के उपस्थित रहने पर जो पहले देवता की पूजा करता है उसकी पूजा निष्फल जाती है और वह नरकगामी होता है। जन्म देने वाले और ब्रह्मज्ञान देने वाले में ब्रह्मज्ञान देने वाले पिता रूप गुरु ही अधिक पूज्य हैं इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वे गुरु को सदा पिता से अधिक सम्मान दे। गुरु के प्रति व्यक्ति जो निष्ठा और आदर रखता है, वैसा ही आदर गुरु पुत्रों के प्रति भी रखना चाहिए।"

टिप्पणी—उपरिवर्णित शास्त्रानुशासन के सम्बन्ध में निवेदन है कि आज के व्यक्ति के लिए स्वर्ग और नरक का अस्तित्व सन्देह की वस्तु बन गया है पर यह हमारे ज्ञान के बाह्यपरक होने का प्रमाण है, हमारी बुद्धि के स्थूल होने का लक्षण है। हम इतने संकीर्ण ज्ञान वाले हो गये हैं कि इन्द्रियों द्वारा दिए गये ज्ञान को ही चरम सत्य के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, तदितर को कपोल कल्पना और अन्धविश्वास ही मान लेना चाहते हैं। कोई भी विश्वास जो इतने बड़े समुदायक का है और इतने दीर्घकाल तक जीवित रहता आया है उसे अन्धविश्वास नहीं कहा जा सकता।

पुनर्जन्म के कई केस आज भी सुनने में आते हैं। 'कल्याण' में ही नहीं दूसरे समाचार पत्रों में भी पुनर्जन्म और प्रेतों की जीवनी का विवरण स्थान, तिथि आदि के साथ छपता है, अतः परलोक और पुनर्जन्म का सिद्धान्त अन्धविश्वास कहकर उपेक्षणीय नहीं बनाया जा सकता। भारतीय जीवन में नरकगामी होना सबसे बड़ा अभिशाप होता था। आज की पीढ़ी मरणोत्तर स्थिति पर विश्वास करे या न करे, लेकिन इससे नरक-स्वर्ग की वास्तविक स्थिति पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। भारत के लिए यह स्थिति अत्यन्त विश्वास की ओर चाक्षुष् सत्य की रही है, जिसे ऋषियों ने दिव्य-चक्षुओं से देखा और वर्णन किया है।

गुरु का इतना महत्त्व किसी वर्ग विशेष की प्रतिष्ठा कराने के उद्देश्य मात्र से नहीं किया गया है, न ही ब्राह्मण को प्रचार के आधार पर सर्वोत्तम स्थापित करने का उपक्रम रचा गया है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन-काल का ब्राह्मण राजा राम की तरह ध्येयनिष्ठ हुआ करता था। जिस तरह राम ने अपने राजत्व और व्यक्तित्व का लोकहित के लिए उत्सर्ग कर दिया था और इसके फलस्वरूप लोक पालक राम का जन्म हुआ था, उसी तरह तपस्या निरत साधुमना ब्राह्मण अपने मनुष्य होने की भावना को साधना को समर्पित कर देते थे। कर्मरहित ब्राह्मण की कल्पना करना भी उस युग में असंभव था, इसीलिए साधनहीन, वनवासी ब्राह्मण के आने पर सम्राट् सिंहासन से उतरकर उनका स्वागत करता था। वे ब्राह्मण मूर्तिमान् आचरण होते थे, कर्म का सशरीर स्वरूप होते थे चाणक्य को हुए कोई बहुत अधिक समय नहीं हुआ। चाणक्य भी गुरु था, वास्तविक गुरु। साधारण से व्यक्ति को सम्राट् बना देने के बाद भी उसी साधारणतम कुटिया में शिष्यों द्वारा जुटाये गए स्वल्पतम साधनों से जीवन-यापन करने वाला चाणक्य गुरुपद के लिए योग्य था, उसका जीवन कर्म के समर्पित था, इसलिए वह स्वयं मूर्तिमान कर्म था। द्रोणाचार्य, वशिष्ठ जैसे ऋषियों का जीवन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि गुरु और ब्राह्मण, साधारण आदमी नहीं रहते थे। वे अपने पद के प्रति इतने निष्ठावान एवं जागरूक बने रहते थे कि वे स्वयं गुरु के प्रतीक बन जाते थे। गुरुपद के गौरव के सामने उनको मानव की साधारणता, देह की आवश्यकता और मन की

तृप्ति जैसे विषय नगण्य लगते थे। उद्देश्य को समर्पित व्यक्ति उद्देश्य स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति को इतना महत्त्व देना स्वाभाविकता है, व्यवसाय अथवा विज्ञापन नहीं। पिछले पृष्ठों में गुरु के लक्षण बताये गए हैं वे इसीका प्रतीक हैं कि जो व्यक्ति मन्त्र के समर्पित है, जिसने जीवन की साधारण आवश्यकताओं, देह की प्राकृतिक पूर्तियों, सांसारिक आसक्तियों से ऊपर उठा लिया है, वही गुरुपद के उपयुक्त है। निन्दित गुरु में असामाजिकता का, अवगुणों का, अमानवीयता का समावेश रहता है। वह देहाशक्ति को भी समझता है, अपने कदाचार से वह अपने आपको निम्न स्तर का भी करता है इसलिए निन्दित है।

साधक के लक्षण—मंत्र साधन में गुरु का महत्त्व उन पांच अंगों में से है जिनके आधार पर सम्पूर्ण ढांचा खड़ा होता है। मन्त्रोपासना के पञ्चांग में यद्यपि शिष्य को गौण माना गया है, फिर भी साधक का लक्षण समझ लेना मन्त्रदाता और ग्रहीता के लिए लाभदायक रहेगा। यदि कोई व्यक्ति मंत्र ग्रहण करना चाहता है तो वह अपने आपको भी इन कसौटियों पर कसे। इन आयामों से देखने पर यदि कोई न्यूनता दिखाई पड़ती है तो व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने आपको सुधारे-संवारे, योग्य बनाये और फिर मंत्र ग्रहण करने की अभिलाषा करे। इससे साधक को सद्यः सफलता मिलेगी और मन्त्र भी असत्य कहलाने के दोष से मुक्त रहेगा। शिष्य के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार बताये गए हैं—

शील स्वभाव वाला, गुणवान, विनयी, निश्छल, श्रद्धालु, धैर्यवान, सर्वकर्म समर्थ, अभिज्ञ, सद्वंश में जन्मा, सच्चरित्र और जितेंद्रिया हो।

निन्दित साधक— निन्दित गुरु की तरह निन्दित शिष्यों की भी व्याख्या शास्त्रकारों ने की है। निन्दित शिष्यों की श्रेणी में—पापी, क्रूर (निर्दयी) धोखा देने वाले, अतिदरिद्र, कंजूस, आचरण भ्रष्ट, मन्त्रभ्रष्ट, मन्त्रद्वेषी, पराई निन्दा करने वाले, आलसी, अत्यन्त कायर, पाखण्डी, सदा रोगी रहने वाले, क्रोधी, लोभी, हमेशा असन्तुष्ट रहने वाले, हिंसा करने वाले, ईर्ष्यालु, कर्कश भाषण करने वाले, अन्यायपूर्ण तरीकों से जीविका चलाने वाले, परस्त्रीरत, पण्डितों से वैर रखने वाले, अपने आपको विद्वान समझने वाले, दुष्ट, व्यर्थ की बकवास करने वाले, चरित्रहीन और निन्दित

व्यक्ति आते है।

उपर्युक्त दोषों के रहने के कारण व्यक्ति का मन स्वच्छ नहीं हो पाता। मानसिक निर्मलता के बिना मन की वृत्तियां अन्तर्मुखी नहीं होती और मन की अन्तर्मुखता के विना मन्त्र का प्रयोजन सफल नहीं होता। इन दोषों के कारण व्यक्ति समाज में भी श्रद्धा-भाजन नहीं होता है तो मंत्र-शास्त्र के पवित्र राज्य में प्रवेश पाने का अधिकारी भी नहीं रह पाता।

मंत्र से व्यक्ति की स्वकीय शक्तियों का जागरण होता है। मंत्र की शक्ति भी इस व्यक्तिगत शक्ति को गुणित करती है, अतः यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को मंत्र दिया जा रहा है उसके शील धैर्य, आचरण और ज्ञान की एक वर्ष तक परीक्षा कर ली जाए। मंत्रदाता के लिए मंत्रदान ऐसी ही अनुभूति है जैसी कन्यादान। कन्या का पिता कन्या को बड़े स्नेह और यत्न से पालता-पोसता है और वयस्क होने पर उसे एक धरोहर के रूप में किसी दूसरे के हाथ में सौंप देता है। मंत्र साधक भी बड़ो जागरूकता और प्रयत्नों से मंत्र का साधन करता है और उसे दान करता है। यद्यपि मंत्रदान करने से दाता के पास से मंत्र सर्वथा नहीं चला जाता, न मंत्र का दान करना मंत्रज्ञ के लिए आवश्यक है। फिर भी यत्न साधित मंत्र का दान बड़ी नाजुक और गंभीर परिस्थिति होती है। इससे दीक्षा दिए जाने वाले व्यक्ति को एक बना-बनाया शक्तिपुंज मिल जाता है, अतः शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्ति की सब तरह से परीक्षा कर ली जाए।

शास्त्र कहता है कि मन्त्री का पाप राजा को, सेवक का पाप स्वामी को, स्वयं का पाप स्वयं को तथा शिष्य का पाप गुरु को लगता है, इसलिए शिष्य के गुण-दोषों का परीक्षण बड़ी सावधानीपूर्वक कर लेना गुरु और शिष्य दोनों के लिए ही श्रेयस्कार होता है। शिष्य के लिए यह सुविधा है कि वह किसी प्रकार के अवाञ्छित अभ्यास का विषय बन गया है तो उसे छोड देने की कोशिश करे। गुरु शिष्य को तब तक मंत्रोपदेश न करे जब तक उसके आचरण की परीक्षा ठीक प्रकार से न कर ले।

(आब्जर्वेशन पीरियड़) परिवीक्षा काल चारों वर्णों के लिए अलग-अलग है। अर्थात् गुणवान् ब्राह्मण एक वर्ष तक, क्षत्रिय दो वर्ष तक, वैश्य तीन वर्ष तक और शूद्र चार वर्ष तक गुरु के निकट परिवीक्षा के रूप में

रहें। इतने समय में शिष्य की सभी योग्यताएं गुरु को दृष्टिगत हो जाएगी। परिवीक्षा काल में भली प्रकार से उपयुक्त सिद्ध हो जाने पर ही गुरु यथा-समय विधि-विधानपूर्वक मंत्रोपदेश करे।

आज के युग में जातियों, उपजातियों के अनन्त विस्तार में चार वर्णों का विशुद्ध आधार ढूंढ लेना सरल काम नहीं है। प्राचीन काल से चली आ रही वर्ण संकरता के भीतर से विशुद्ध जातीयता की तलाश कर पाना भी आसान काम नहीं है, किन्तु इन शास्त्र मर्यादाओं को सामयिक सन्दर्भ में समझ लेना भी बुद्धिमानी ही होगी। युग ने अपनी आवश्यकता के अनुसार विकास के लिए समाज को इकाइयों में बांट लिया था और इकाइयों से सुनिश्चित व द्रुत विकास होता है। इसलिए यह विभाजन उस युग के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ। आज परिस्थितियां बदल गई हैं तथा तंत्र के लिए जाति कोई बहुत बड़ी बाधा नहीं रही है इसलिए ऐसे प्रसंगों में व्यक्ति के गुणों को ही सर्वोपरि महत्त्व देना व्यावहारिक बात होगी।

कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति को पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण स्वप्न में ही मंत्र का निर्देश हो जाता है, अतः ऐसे मंत्र के लिए कोई नियम नहीं है। व्यक्ति स्वप्नलब्ध मंत्र को जब चाहे सिद्ध कर सकता है तथा सिद्ध होने पर जिसे चाहे उसे दे सकता है, पर देने से पहले शिष्य में शिष्यत्व के गुण अवश्य देख ले।

दीक्षा—उपासना के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। ईसाइयों का का बपतिस्मा अथवा हिन्दुओं का यज्ञोपवीत जैसा ही यह संस्कार होता है। अदीक्षित को प्रयोग करने की अनुज्ञा शास्त्र नहीं देते। स्वाभाविक है—दीक्षा गुरु ही देगा और गुरु मिलने का अर्थ होता है—एक सबल आश्रय का मिल जाना। गुरु को जितना महत्त्व भारतीय परम्पर में दिया गया है उसे देखते हुए यह मान लेना पड़ता है कि गुरु की प्रसन्नता से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यह गुरु का दायित्व हो जाता है कि वह हमारी गति को देखता रहे, लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मार्ग प्रशस्त करे, साधना में आने वाले विघ्न और दोषों को दूर करे—इन सबके लिए यह आवश्यक है कि हम अनन्य भाव से शरणागति ग्रहण कर लें। गुरु के प्रति मानवीय भाव और व्यवहार करने से हमारे में अन्यथाभाव पनपने लगता है और

इससे गुरु को कोई हानि हो या न हो पर हम आवश्यक रूप सो पात्रता का ह्रास करने लगते हैं।

मेरुतंत्र का वचन है कि आज के युग में स्वार्थदग्ध शिष्य और लोभहत गुरु होने लगेंगे ऐसी स्थिति में मंत्र का दिव्यत्व किस तरह अवतरित हो सकता है ? मंत्र निश्छल सत्ता है, उसमें किसी भी स्तर पर कोई दुराव अथवा भेद, लाभ या लोभ का अंश नहीं है फिर कोई निकृष्ट स्वार्थ के वशीभूत होकर इस विधा का वितरण या विनियम करना चाहे तो उसमें निर्दोषिता कैसे आ सकती है और निर्दोष (हुए बिना सदोष) कार्य करने से सुफल कैसे मिल सकता है ? शिष्य की सत्पात्रता एवं श्रद्धा के अनेक लक्षण दिए हैं पर सफलता को गुरु की कृपा और विफलता को अपना दोष कहने वाले लोग वास्तव में शिष्य कहलाने के अधिकारी हुआ करते हैं जबकि स्वार्थी जन सफलता को अपना पराक्रम और विफलता को गुरु के मत्थे मढने की चतुरता दिखाते हैं। यह कोई 'इस' या 'उस' की बात नहीं है प्रत्युत हमारे आस्थाहीन चिन्तन और विश्वासरहित जीवनदर्शन का दुष्प्रभाव है। हमारे यहां किसी की भी मृत्यु होने पर लोग कहा करते हैं—हे भगवान ! बहुत बुरा किया ? ऐसे ही परीक्षा में असफल होने वाले छात्र कहा करते हैं—मुझे फेल कर दिया। इस प्रकार के वचनों के पीछे हमारा विकृत और अहंकार भरा चिन्तन झलकता है। इन वाक्यों को कहने वाली मानसिकता यह मानती है कि भगवान बुरा करते हैं जबकि भगवान के विधान में अमंगल बुरा अथवा अशुभ जैसी कोई स्थिति है ही नहीं, इसी प्रकार परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहने वाला छात्र यह मानने को तैयार ही नहीं है कि उसके प्रयत्न में कोई कमी थी ? परीक्षार्थी तो पास होने वाला था पर यह दोष उस परीक्षक का है जिसने उसे अनुत्तीर्ण कर दिया।

हमारे व्यवहार में नुगरा शब्द का हम प्रयोग करते हैं और इसका प्रयोग हम कृतघ्न, नीच व्यक्ति के लिए करते हैं मूलतः नुगरा शब्द निगुरा से बना है और निगुरा का अर्थ होता है—गुरु विहीन अर्थात् गुरु के बिना हमारे वचन व व्यवहार में प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता नहीं आ सकती और जिसने गुरु बना लिया है वह विश्वासी हो गया है। इसका

अर्थ यह हुआ कि गुरु व्यक्ति के जीवन में विश्वास का संचार करता है, उसे आस्थावान् बनता है और आस्था एवं विश्वास के बिना जीवन में कुछ शेष रहता भी नहीं । अस्तु !

गुरु के मुख से मंत्र ग्रहण करने के संस्कार को ही दीक्षा कहते हैं। दीक्षा शब्द का अर्थ करते हुए तंत्र शास्त्र कहता है—दी अर्थात् दीयते ज्ञान सद्भाव: सज्ज्ञान दिया जाता है और क्षा अर्थात् क्षीयते पाप-संचय पूर्व जन्म और वर्तमान जीवन में किए जा रहे पापों का क्षय करता है। दीक्षित व्यक्ति का एक सम्प्रदाय हो जाया करता है, वह किसी प्रामणिक परम्परा की कड़ी मान लिया जाता है । दीक्षा के बाद व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व प्रकट होता है, उसे अपने जीवन में कुछ करने और पाने का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, एक अर्थ में उसका जीवन सार्थकता से जुड़ जाता है ।

दीक्षा चार प्रकार की होती है—ज्ञानवती, क्रियामयी, स्पर्शवती और दर्शनवती । जैसा इनका नाम है वैसी ही विधि इन दीक्षाओं में सम्पन्न की जाती है। ज्ञानवती दीक्षा सर्वोत्तम होती है पर इसमें शिष्य को पात्रता प्राप्त करने के लिए दीक्षा प्राप्त करने से पूर्व ही साधना करनी पड़ती है। इस प्रकार की दीक्षा आगमतीर्थ पुण्यस्मरण गोपीनाथ जी कविराज को दी गई थी । सुनते हैं—बर्मा की जेल में योगीराज अरविन्द को दीक्षित करने प्रातः स्मरणीय विवेकानन्द सूक्ष्मदेह से आये थे ।

क्रियामयी दीक्षा सामान्य रूप से दी जाती है । दोनों पक्ष—गुरु और शिष्य—परस्पर आश्वस्त होकर निर्दिष्ट विधि-विधान सम्पन्न करके जो मंत्र लेते-देते हैं वह क्रियामयी दीक्षा होती है ।

अनेक बार गुरु हमारे देह में अवस्थित परम शिव के धाम सहस्रार या मूलाधार अथवा किसी अन्य चक्र को स्पर्श द्वारा दोलित करके दीक्षित किया करते हैं। इस विधि में गुरु शिष्य का आलिगन करके भी दीक्षित कर देते हैं अथवा आशीर्वाद के रूप में अपना वरद हस्त शिष्य के मस्तक पर रख कर भी यह विधि सम्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार विवाह में पाणिग्रहण अथवा अन्त:पुर में आलिगन दो व्यक्तियों को पति-पत्नी के रूप में सम्बन्धित होने का एक लक्षण माना जाता है।

चाक्षुण दीक्षा में गुरु की कृपा प्रवण दृष्टि ही शिष्य को अन्तर्बाह्य से आप्लावित कर देती है फिर मंत्र दे दिया जाता है।

पात्रता

यों तो प्रत्येक विधि एवं विद्या में कुछ तकनीकी शब्द होते हैं जो उस सारे विधान और पद्धति को एक व्यवस्थित रूप देते हैं किन्तु उपासना में जिस शब्द से हमारा परिचय होता है वह है—पात्र। पात्र शब्द हम व्यवहार में उसके लिए प्रयोग करते हैं जो किसी वस्तु या भाव का आधार बनता है। निश्चित बात है कि कोई भी पदार्थ पात्र में ही रक्षित रहता है इस दृष्टि से संसार किसी सत्ता किसी आधार में ही है और स्वयं संसार भी किसी सत्ता का पात्र है। जैसे हमारा यह देह ही जीवात्मा का आधार है इसलिए इसे पुर कहते हैं और इसमें बसने वाले को पुरुष।

सारा गुह्य शास्त्र पात्र के लिए आग्रह करता है, वह पदे-पदे दोहराता है कि यह ज्ञान केवल पात्र को ही दिया जाए। पात्र की आवश्यकता अन्तर्विज्ञान के प्रयोगों में विशेषतया इसलिए पड़ती है कि इसमें सारा स्फुरण व्यक्ति के अन्तस् में होता है, उसकी शक्ति का उद्दीपन होता है और इस विस्फुरण में बहुत अधिक सावधान रहना पड़ता है अन्यथा साधना करने वाले का अहित हो सकता है अथवा शक्ति का ही जागरण ही न हो—ऐसा भी हो सकता है। पात्र की यह सबसे बड़ी और दुहरी विशेषता होती है कि उसमें प्रक्षिप्त वस्तु आसानी से समा भी जाए और सुरक्षित भी रहे। जैसे खटाई के लिऐ ताम्बे या पीतल का पात्र केवल आधार ही बन सकता है उसके गुणों को रक्षित रखने की योग्यता उसमें नहीं होती।

यही स्थिति आध्यात्मिक साधना करने वाले जनों के लिये पात्रता बनती है। हमारे व्यवहार में हम देखते हैं कि हमारी शिक्षा और विद्यालय उतना अच्छा परिणाम नहीं दे पा रहे जितने की अपेक्षा हमारा समाज करता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं किन्तु विगत अट्ठाईस वर्षों से शिक्षा जगत् से सम्बन्धित होने के कारण मैं इस तथ्य से परिचित हूं कि आज के वातावरण में शिक्षा जिसे दी जा रही है उसमें पात्रता का विकास

नहीं हो सका। निर्विवाद रूप से यह माना जाता रहा है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को स्वस्थ, श्रद्धावान्, विनम्र और जिज्ञासु होना आवश्यक होता है। ये सारे आधार मिल कर ही ज्ञान के पात्र बनते हैं और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इन गुणों के रहते—ज्ञान का निगूट तस्व गुप्त भी रहता है और उसका तेजस् सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित भी होता है। ज्ञान की इस सुकुमार संवेदनशील गरिमा के कारण ही हम इसे सरस्वती की उपासना कहते हैं ओर सरस्वती का उपासक कितना सरल, विनम्र, निश्छल श्रद्धावान् रहता है—यह हम सब जानते हैं।

सरस्वती का उपासक ज्ञान के अवतरण से दोलित होता है, गुरु की कृपा दृष्टि से कृतार्थ होता है, वाग्देवी के अनुग्रह भार से विनीत होता है, आन्दोलन करने वाला विद्यार्थी कैसे हुआ, गुरुओं का अपमान करके वह विद्वान् कैसे हुआ ? मूलतः आज के युग में जो लोग राज्याधिकारी हो रहे हैं अथवा व्यावसायिक साधना करके धनाढ्य हो रहे हैं—उनके लिए विद्या फलीभूत नहीं हो रही उनका पूर्वकृत फल रहा है।

यह सुपरिचित तथ्य है कि विद्या और वैभव एक साथ नहीं रह पाते। किसी मनीषी को आप कैसी भी सुख-सुविधा प्रदान कर दें, न वह उसमें केन्द्रित होगा, न उसके प्रति अनुराग ही रख पाएगा। ऐसे व्यक्ति ही यह कहा करते हैं—अर्थो मूलम् अनर्थानाम्—सारे झगड़े की जड़ यह दौलत है। बाह्य आडम्बर का और आत्मिक विभुता का अपना पृथक् संसार है और दोनों का अपना अस्तित्व एवं महत्त्व है। अन्तर्मुखी वृत्तिवाले सम्पन्न नहीं होते, भाग्यवश हो भी जाए तो वे देर तक उससे जुड़े नहीं रह सकते। रोम के जलने पर कीरो बांसुरी बजा रहा था या नहीं बजा रहा था—यह एक कहावत है किन्तु अयोध्या के जलते रहने पर भी राजा जनक निर्विकार भाव से अपने गुरु से ज्ञान चर्चा करता रहा था।

जिस प्रकार विद्या के लिए पात्रता आवश्यक है उसी तरह धन के लिए भी, राज्य के लिए भी और बल के लिए भी। अधिकांश जन उसी दिशा में प्रवृत्त होते हैं जिसमें प्रवृत्त होना उनके जीवन का उद्देश्य है। क्षणिक आवेश और उत्साह से प्रेरित होकर किसी दिशा विशेष में प्रवृत्त होना आकस्मिकता के अलावा नहीं हो सकती। माना अनेक लोग घोर

प्रयत्न करके अपने भविष्यत् को चुनौती दिया करते हैं और यही उनके सकर्मक पुरुषार्थ का प्रतीक है फिर भी अनेक ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिन्हें देखकर यह मानना होता है कि प्रकृति का कर्म और विपाक का सिद्धान्त अव्याहत है कई बार ऐसे व्यक्तियों से मिलने का अवसर आया है जिनकी जीभ बहुत मोटी होने के कारण वे परिमार्जित उच्चारण नहीं कर पाते, उनको साधना के श्रेष्ठ स्तर को प्राप्त करने के लिए कुछ जीवन और जीने हैं। जीभ का स्थूल होना बाह्य लक्षण है जो यह संकेतित करता है कि अमूक व्यक्ति (विशेष) का विगत जीवन पशुता के स्तर का था उसमें विकास एवं परिष्कार होने के कारण ही उसे मानव देह मिला है।

आशय यह कि हममें पात्रता का विकास होता है और प्रकृति हमारे विकास को उन्नत व उन्नततर देह स्तर देकर परिभाषित करती है। हमारा सारा प्रयत्न पात्रता को अपेक्षित स्तर व आकार देने के लिए रहा करता है और श्रेष्ठ पात्रता में सुकोमलतर वस्तु भी सुरक्षित व अविकृत रह सकती है।

आज के परिप्रेक्ष्य में आरुणि, उद्दालक और एकलव्य ऐतिहासिक निधियां हैं, उनका हमारे शिक्षा व्यवहार में कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया फिर भी इन उपाख्यानों का हमारे जीवन में उपयोग है। ज्ञानार्जन के लिए हमारे आचरण में अपेक्षित आधारों का अन्वेषण करने का एक स्पष्ट संकेत है। माना, जिस व्यक्ति को हमारी पात्रता की परीक्षा करनी है उसे समर्थ और विज्ञ होना चाहिए फिर भी जिस व्यक्ति को ग्रहण करना है उसे अधिक स्वच्छ और संवेदनशील होना चाहिए क्योंकि सारे उपक्रम का नायक तो साधक ही बना करता है। साधक की पात्रता में ही ज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित होगा, साधक की योग्यता ही गुरु की कृपा के दीप्त होने का आधार बनेगी।

शास्त्रों ने शिष्य की जो आचार संहिता बनाई है उसके अनुरूप व्यक्ति—आज के व्यक्तिवादी युग में और स्वतंत्र आचरण में—एक क्रीतदास जैसा हो जाता है और यह सम्बन्ध बुर्जुआ किस्म का हो जाता है किन्तु अफसोस यह कि यही बुर्जुआपन साधना क्षेत्र की पात्रता है।

मैं स्वतंत्रता का पक्षधर होते हुए भी अपने जीवन में और विशेषतः

अपने इष्ट, गुरु और मंत्र के प्रति ऐसी ही भावना और व्यवहार को अपनाता हूं। अपने जीवन में गुरु के प्रति समर्पित भाव रखने का अमृतफल मैंने खाया है, खा रहा हूं इसलिए इस बुर्जुआपन से मुझे कोई अरुचि नहीं है यह तो शिष्य का शृंगार है, यही सरस्वती के अवतरण का दिव्य मण्डप है। मुझमें कितनी पात्रता है—यह मैं नहीं जानता, इसकी आवश्यकता भी नहीं।

पात्रता के लिए इतना आग्रह करना मेरा अपना दृष्टिकोण नहीं है, हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षि जिस आधार के लिए इतना आग्रह करते रहे हैं उसका यथार्थ मैंने जिस रूप में अनुभव किया है, उसे प्रस्तुत करने के तिरिक्त कोई कारण नहीं है।

इस आग्रह को अथवा पात्रता की आवश्यकता को हम साधना क्षेत्र ा विषय मान सकते हैं किन्तु पात्रता जैसी शर्त का महत्त्व हमारे जीवन में और अपने आस-पास के व्यवहार में प्रत्यक्ष है। मान लीजिए आप पिता हैं—आपसे मिठाई, फल या खर्च मांगने वाला पुत्र आपकी सम्पूर्ण शक्ति को नहीं जान पाता, आप पति हैं—आपमें विद्यमान रसिकता और पौरुष एवं संरक्षा से अधिक आपको आपकी पत्नी नहीं जानती आप किसी अधिकार सम्पन्न पद पर हैं तो उससे सम्बद्ध जन भी आपकी क्षमता का एक पहलू जानते हैं ये सारे लोग मिलकर आपका मूल्यांकन करें तो कोई सर्वमुखी निष्कर्ष निकल सकता है किन्तु ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार आपका मूल्यांकन करते हैं अर्थात् आपका व्यक्तित्व एक स्वतंत्र वस्तु है, उसे जानने वाले को अपनी पात्रता का विकास करना है। पुत्र ही वयस्क होने पर हमें मित्र अथवा सहयोगी के रूप में पहचानने लग जाएगा, पत्नी प्रौढ़ होकर हमें स्नेह के आयाम से देखने लगेगी। यही पात्रता है और यही पात्रता का विकास है।

आरुणि अथवा उपमन्यु की निष्ठा पर प्रसन्न होकर गुरु ने आशीर्वाद दिया था—जा वत्स ! तुझे सारे शास्त्र प्रतिभासित हो जाएंगे, तेरी कीर्ति युगों तक भास्वर रहेगी और गुरु का आशीर्वचन फलीभूत हुआ था।

वास्तव में तत्वद्रष्टा गुरु ने अपनी तरफ से शिष्य को कुछ नहीं दिया था, उसने शिष्य की उत्तम पात्रता को पहचाना था और पात्रता के अनुसार

संभावित परिणाम की सूचना दी थी। सत्य तो यह है कि शिष्य की निष्ठा और समर्पण पर गुरु मुग्ध हो गए थे और उनका हर्षातिरेक स्वतः इन शब्दों में व्यक्त हो गया था। जो लोग इतने निष्ठावान् हैं, जो अपने स्व को, अहं को और इच्छा को भूलकर गुरु के चरणों में अर्पित हो जाते हैं उनमें उत्तम पात्रता है और जैसी पात्रता होगी वैसी वस्तुएं स्वतः आ जाएंगी।

आपने अपने पिछवाडे में किसी पशु का शव फेंक दिया है तो मृतभोजी श्वान-शृगाल-गृध्र बिना निमंत्रण के आ जुटेंगे इसके विपरीत यदि आपने अपने उपवन में सुन्दर तालाब बनवा दिया है, उसमें कमल के फूल उगा दिए हैं तो वहां भी सुन्दर जलचर बिना आमंत्रण के एकत्रित हो जाएंगे। यह सारी विशेषता वातावरण की है, यही वातावरण मानसिक स्तर पर व्यक्त होकर हमारे विचार एवं व्यवहार में फलित होता है और चरित्र कहलाता है चरित्र के ही सत् और असत्, सु और कु स्वरूप होते हैं जो व्यक्ति को सच्चरित्र और असच्चरित्र बनाते हैं और तदनुसार ही व्यक्ति सुपात्र और कुपात्र कहलाता है।

सच यह है कि हम जिस मार्गदर्शक की खोज कर रहे हैं, वह महापुरुष भी हमारी तलाश कर रहा है और हम एक-दूसरे से दूर अथवा अपरिचित इसीलिए बने रहते हैं कि तदनुरूप पृष्ठभूमि नहीं बन पाती अन्यथा पृष्ठ-भूमि बन जाने के बाद उस सत्पुरुष को आना ही पड़ेगा। जो प्रकृति सभी को भरा रखती है, जिसे ऋतंभरा कहा जाता है उसकी व्यवस्था में कोई रिक्त रहता ही नहीं। जो स्थान हमें खाली दिखते हैं वहां भी वायु और ईथर है। आवश्यकता इस बात की है कि हम जिस प्रकार के बनना चाहते हैं वैसा आचरण और वातावरण हमें यथार्थतः बना लेना है फिर नरदेव ही क्या देवाधिदेव भी आएंगे, निश्चय से आएंगे अतः संघर्ष पात्रता प्राप्त करने का करना है।

मंत्र, देवता और गुरु इन तीनों में कोई भेद नहीं होता। मंत्र देवता की शाब्दिक अभिव्यक्ति है तो देवता मंत्र का स्वरूप है और गुरु मंत्र का द्रष्टा है, अतः इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है।

मंत्र का देवता—कलियुग में मंत्र ग्रहण करने से पूर्व मंत्र के अधिष्ठाता देवता की अर्चना करने का विधान है। देवता की अर्चना

तांत्रिक विधि से की जाए। कलिकाल में तंत्रोक्त विधि ही वास्तविक विधि है। सत्य युग में वेदनिर्दिष्ट विधि से, त्रेतायुग में स्मृति विहित प्रकार से, द्वापर में पुराणों में वर्णित विधि से तथा कलियुग में तंत्र-शास्त्र द्वारा बताई गई विधि से देवता का समाराधन करना चाहिए। तंत्रोक्त विधि से देवता की अर्चना करना फलदायक होता है। इस तथ्य का विश्लेषण करते हुए तंत्रसार में लिखा है कि, 'युग का प्रभाव अपरिहार्य है, अतः कर्म और क्षमता में कमी आ जाने के कारण कलियुग के ब्राह्मण अपवित्र और शूद्रों के कर्म करने वाले होंगे, इसलिए वेद विहित साधना उनके वश की बात नहीं होगी और तंत्रोक्त विधि ही सुगम-श्रेयस्कर होगी। मंत्रों के अर्थ त्रता होते हैं और देवता गुरु के स्वरूप होते हैं, इसलिए मंत्र, देवता और रु में भेद नहीं करना चाहिए।

कौन किससे मंत्र ले?—मंत्र ग्रहण करने के सम्बन्ध में शास्त्र की मर्यादा है—

उदासीन व्यक्ति उदासीन से, वनवासी वानप्रस्थी से, यति यति से, गृहस्थ गृहस्थ से, वैष्णव वैष्णव से मंत्र ग्रहण करे अर्थात् उद्देश्य के अनुसार तदनुरूप व्यक्ति से ही मंत्र ग्रहण करना ठीक है इतर से नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा स्पष्टीकरण है कि संन्यासी जिस मंत्र का जप करता है अथवा वानप्रस्थी को जो मंत्र सिद्ध है वह एकाकी करने वाला, निःसंग बना देने वाला मंत्र होता है। उससे गृहस्थी की लोक साधना नहीं हो सकती। यदि संन्यासी गृहस्थी की स्थिति के अनुसार श्रीसौभाग्य की वृद्धि करने वाला मंत्र देता है तो वह निष्फल रहता है क्योंकि वह सिद्ध नहीं होता, अतः जिस प्रकार की स्थिति में मंत्र ग्रहीता है उसी स्थिति का मंत्रदाता भी होना चाहिए।

विशेषतया इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वैष्णव वैष्णव से, शैव शैव से और शाक्त शाक्त से ही मंत्र ग्रहण करे।

भारत के ये शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय परम शक्ति के स्थान और स्वरूप भेद के कारण व्यवहार में आए। इनमें उपासना विधि का भेद ही मुख्य रहा है। साधना के माध्यम में कोई अन्तर नहीं है। अन्तिम स्थिति पर पहुंचते न पहुंचते शिव, शिवा और विष्णु एकरूप हो जाते हैं।

इस अन्तर ने एक मौलिक दृष्टि दी है, विशिष्ट उपासना विधि दी है। लक्ष्य को न अभारतीय बनाया है न विभाजित ही किया है। आज इन मत-मतान्तरों के कारण समाज में द्वेष भावना पनप रही है। शैव अपने आपको शाक्तों से श्रेष्ठ मानते हैं और वैष्णव शैवों तथा शाक्तों को वेद-विरुद्ध, अतः अपवित्र समझते हैं। हुआ यह है कि लोगों में उपासना के स्थान पर दम्भ अधिक आ गया। दूसरे को नीचा दिखाकर अपने आपको श्रेष्ठ करने की भावना ने मतों का विनाश कर दिया, लोगों के मन से आस्तिकता को ही उखाड़ फेंका।

व्यक्ति साधना केन्द्रित रहता है तो वह स्वयं को और मतान्तरों को भूला रहता है पर जब उसमें साधना के स्थान पर प्रदर्शन का मोह उपजता है तो अहंकार का उदय हो आता है। अहंकारी आत्मनाश तो करता ही है बेचारी निरपराध उपासना विधि को भी बदनाम कर देता है। भारत में प्रचलित नाना प्रकार की उपासना विधियां व्यक्ति के विस्तृत ज्ञान की परिचायक हैं। एक साध्य को प्राप्त करने के लिए अनेक विधि मार्ग खोज लेने के अथक प्रयास के सार्थक परिणाम हैं, इनका साध्य भेद, बुद्धि, द्वेष भावना और ऊंच-नीच का अन्तर नहीं है। यह दोष समाज के धुरीणों का है, मत के महन्तों का है, जिन्होंने साधना के स्थान पर घृणा का प्रचार-प्रसार किया, सबका सम्मान करने की अपेक्षा अपने को सम्मानित करनें का उपक्रम रचा।

सारे मंत्रों, मतों और देवताओं का केन्द्र शक्ति है। शक्ति के बिना किसीका भी अस्तित्व नहीं, उस शक्ति को जो चाहे सो नाम दे लिया जाए कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर तब आता है जब शक्ति की उपेक्षा कर दी जाती है और नाम को सर्वस्व मान लिया जाता है। शक्ति के रूप में समस्त विश्व एक है, सारे जागतिक क्रिया-कलाप उसी शक्ति के कारण निष्पन्न होते हैं, शक्ति के ही कारण व्यष्टि सम से जुड़ा हुआ है। जो तथ्य इतनी निकटता के सम्बद्ध है, जो सत्य इतनी दृढ़ता से व्याप्त है वह न घृणा सिखाता है, न द्वेष, न उच्चता का दम्य और न अमंगल। समाज को जोड़ने का काम करता है धर्म, व्यक्ति की उन्नति करने का पवित्र दायित्व लेता है मत। इस प्रकार के विखण्डन आदमी की क्षुद्रता के कारण हैं, व्यक्ति का

क्षुद्र बोध अहंकार का आश्रय लेकर इस प्रकार के द्वेष का प्रसार किया करता है, अतः इन दोषों से बचते हुए, सबमें एकत्व की भावना रखते हुए, इतर मतों को सम्मान देते हुए, शैव को शैव से, शाक्त को शाक्त मतावलम्बी से और वैष्णव को वैष्णव से ही मंत्र ग्रहण करना चाहिए।

शैवता, शाक्तता और वैष्णवता में परस्पर विरोध नहीं होता है, न इनमें कोई पारमार्थिक भेद ही होता है, पर यह व्यक्ति की आस्था का, उसकी निजी रूप-कल्पना का विषय है, अतः एक ही मत के प्रति सहज विश्वास और आत्मीयता होती है। मंत्र ग्रहण करने में यह मत श्रेयस्कर रहा करता है।

मंत्र ग्रहण करना और मंत्र प्रदान करना अत्यन्त सावधानी का विषय है। अनधिकृत व्यक्ति से मंत्र ग्रहण करने पर वह निष्फल होता है। अपात्र एवं निन्दित व्यक्ति को मंत्रदान करने से मंत्रदाता दोषभागी होता है। शास्त्र का आदेश इस सम्बन्ध में मंत्र की पवित्रता और शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कठोर है। आदेश एवं शास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन करने के लिए किसी भी व्यक्ति को छूट नहीं है। वास्तव में इन मर्यादाओं से मंत्र की क्षमता बनी रहती है और वह फलदायी बना रहता है।

मंत्रदान में शास्त्रों ने दो स्थितियां बताई हैं। एक मंत्र वह है जो विधिवत् ग्रहण करने के पश्चात् उपासना द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है। सिद्ध मंत्र व्यक्ति की स्वार्जित साधना हो जाती है और उसके लिए शास्त्रों की मर्यादा शिथिल कर दी गई है। दूसरी स्थिति में सिद्ध पुरुष एवं कर्म-निष्ठ व्यक्ति शास्त्रोक्त मंत्रों का उपदेश कर सकता है। यह व्यवहारिक दृष्टि से संभव नहीं है कि असंख्य मंत्रों को सीमित जीवन में पुरश्चरणादि द्वारा सिद्ध कर सके किन्तु एक विधि में पूर्ण और कर्मनिष्ठ रहने वाला व्यक्ति इतर मंत्रों का उपदेश कर सकता है और साधक उससे ग्रहण कर सकता है। आगे विभिन्न ग्रन्थों के मतानुसार इसका विवेचन किया जा रहा है कि कौन किसको मंत्रदान कर सकता है?

कल्पशास्त्र में लिखा है कि स्त्री-पुत्रवान्, दयालु, सबका कल्याण चाहने वाला, सर्वप्रिय, ज्ञानवान् और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण का दिया मंत्र निष्फल नहीं जाता है।

मन्त्र दान के अधिकारी और अनाधिकारी—पिता, नाना, छोटा-सगा भाई तथा शत्रुपक्ष के व्यक्ति से मंत्र ग्रहण करने का निषेध योगिनी तन्त्र में किया गया है।

गणेश विमर्षिणी तंत्र के मत से पति, पिता, वनवासी और उदासीन से मंत्र ग्रहण करने से मंत्र दाता का अनिष्ट होता है और ग्रहीता को सिद्धि नहीं मिलती है।

रूद्र यामल तंत्र के अनुसार पति अपनी पत्नी को, पिता अपने पुत्र को तथा पुत्री को और भाई अपने सहोदर भाई को मंत्र न दे।

अपवाद—उपरिर्वणित चारों मर्यादायें सिद्ध मंत्र के लिए शिथिल मानी गई हैं। किसी व्यक्ति ने अपनी साधना के आधार पर यदि मंत्र को सिद्ध कर लिया है तो वह अपनी पत्नी को दे सकता है तथा ज्येष्ठ-कनिष्ठ पुत्र अपने पिता से ग्रहण कर सकते हैं। सिद्धि-मंत्र में भाई-भाई,का अयवा अन्य निकटस्थ पारिवारिक सम्बन्धों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। मंत्र साधना सिद्ध होने की स्थिति में जीवित रहता है और वह सामान्य स्थिति के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ऐसे सिद्ध मंत्रों के लेने-देने में कोई दोष अथवा आपत्ति नहीं होती।

गणेश विमर्षिणी तन्त्रोक्त यति, उदासीन और वनवासी से मंत्र ग्रहण का निषेध भी सामान्य स्थिति में ही किया गया है, सिद्ध मंत्र के सम्बन्ध में यह निषेध विशेष अर्थ नहीं रखता।

शक्ति यामल की व्यवस्था इस सम्बन्ध में यह है कि यति, उदासी अथवा वनवासी भी तीर्थ और सदाचारवान् है, ज्ञानवान् है, सिद्धमंत्र है, विख्यात है, नित्य कर्म करने वाला है तो उससे मंत्र ग्रहण कर लेना चाहिए। भाग्यवशात् कोई सिद्ध मंत्र वाला मिल जाए तो उससे मंत्र ग्रहण करने में गुरुपद की योग्यताओं का विचार नहीं करना चाहिए। अपवित्र स्थान पर पड़े हुए स्वर्ण को ग्रहण करने वाला स्थान समय का विचार नहीं करता, स्वर्ण के महत्त्व को मानता-समझता है, अतः सिद्ध मंत्र रूपी स्वर्ण के मिलने के अवसर पर शास्त्रीय मर्यादाओं का विचार न करे। स्वयं शास्त्र भी इसके लिए आदेश देते हैं।

सिद्ध मंत्र के अलावा दूसरा मंत्र; पिता, पति, भाई, पति, उदासी

आदि व्यक्तियों से लिया गया मंत्र दोषभाजन बनाता है। अज्ञान अथवा प्रमादवश लिया गया ऐसा मंत्र निष्फल तो होता ही है ग्रहीता को भी प्रायश्चित करना पड़ता है। प्रायश्चित के रूप में दस हजार गायत्री का जप करके फिर योग्य व्यक्ति से पुनः मंत्र ग्रहण करने का विधान शास्त्रों में है।

मत्स्य सूक्त के वचनानुसार पिता से ग्रहण किया हुआ मंत्र शक्तिहीन होता है। पिताग्रहीत मंत्र के जप से कोई फल नहीं मिलता। इस स्थल पर अपवाद के रूप में शैव और शाक्त मंत्रों को माना गया है। अर्थात् कौलाचार दीक्षा में दीक्षित होने पर पिता आदि व्यक्ति शैव और शाक्त मंत्रों का उपदेश कर सकते हैं। कौलाचारवान् मंत्रज्ञ अपने ज्येष्ठ पुत्र को मंत्रोपदेश कर सकता है—इस बात का समर्थन शास्त्रीय मर्यादा करती है।

मंत्र ग्रहण का स्थान व अवसर— गंगा, प्रयाग आदि तीर्थों में, चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण के समय मंत्र दीक्षा लेने में विशेष विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि तीर्थों पर ऋषियों ने तपस्या की है, उनकी (तीर्थों की) अपनी शक्ति और महिमा होती है, चन्द्र ग्रहण जैसे समय में मंत्र की और पृथ्वी तत्त्व की शक्ति उग्र रूप होकर एक स्वरूप हो जाती है, अतः इन तपःसिद्ध स्थानों पर और प्राकृतिक शुद्ध अवसरों पर लिया गया मंत्र निर्दोष एवं शक्ति सम्पन्न होता है, उसके ग्रहण करने में विशेष व्यक्ति और स्थिति का विचार नहीं किया जाना चाहिए।

ऊपर स्वप्नलब्ध मंत्र का वर्णन आया है। मतान्तर में स्वप्नलब्ध मंत्र को संस्कार से शुद्ध करने पर ही जप योग्य और साधना लायक माना है।

मंत्र विराट् शक्ति का केन्द्र है, गुणातीत ब्रह्म की शाब्दिक प्रतीति है। शक्ति का विग्रह होने से मंत्र में शक्ति होती है। शक्ति से विचार क्रियान्वित हो जाते हैं। सूक्ष्म भावना जगत् को स्थूल में कार्य रूप में परिणत करना शक्ति के द्वारा ही संभव होता है। मंत्र के स्वरूप के साथ ही मंत्र देने योग्यता और मंत्र ग्रहण करने वाले शिष्य की पात्रता पर विचार करने से साधना निर्दोष और निश्चित फलदायिनी होती है। मंत्र शास्त्र इस विषय में पूर्ण सतर्कता बरतने का आग्रह करता है। दीक्षा के बिना केवल पुस्तकों में वर्णित मंत्र की साधना उचित नहीं होती। मंत्र वही

होता है जो शास्त्र में वर्णित रहता है पर उसे जप द्वारा सिद्ध करने के पहले योग्य व्यक्ति से उसकी दीक्षा अवश्य ले लेनी चाहिए।

स्त्री मंत्र दे सकती है—दीक्षा में विधवा स्त्री का निषेध है। मंत्र दीक्षा में स्त्री से मंत्र ग्रहण करने में कोई आपत्ति शास्त्र की दृष्टि से नहीं है, बशर्ते कि वह स्त्री विधवा नहीं हो और अपेक्षित गुणवती हो। स्त्री दीक्षक में क्या गुण होने पर उससे मंत्र की दीक्षा लेनी चाहिए—इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रानुशासन है—पतिव्रता, अच्छे चरित्र और आचरण वाली, गुरुभक्त, जितेन्द्रिय, मंत्रों के अर्थ और रहस्य को जानने वाली, सुशीलवती, पूजारत स्त्री गुरु बन सकती है, व्यक्ति ऐसी स्त्री से मंत्रोपदेश ग्रहण कर सकता है किन्तु विधवा न हो। स्त्री से ली गई दीक्षा शुभ होती है। माता यदि उक्त गुण सम्पन्न हो तो उससे ग्रहण किया गया मंत्र आठ गुण फल देने वाला होता है।

दीक्षा बिना मंत्र निष्फल होता है—मंत्र साधन से पूर्व दीक्षा ग्रहण करने से मनुष्य को दिव्य ज्ञान होता है, सभी पाप धुल जाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, संन्यास और वानप्रस्थ सभी आश्रमों में उपासना योग्य मंत्रों की दीक्षा लेना आवश्यक है। दीक्षा के बिना कोई भी मंत्र, कोई भी साधना सफल नहीं होने की। जप, तपस्या, यज्ञ आदि सभी कार्य दीक्षा पर निर्भर करते हैं। मंत्र की दीक्षा लेने के बाद व्यक्ति चाहे किसी भी आश्रम में रहे उसका मंत्र सिद्धिदाता बना रहता है। अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में लिया हुआ मंत्र गृहस्थाश्रम में, गृहस्थाश्रम ग्रहण किया हुआ मंत्र वानप्रस्थाश्रम में भी सिद्धिदाता होता है। मंत्र एक गहन साधना है, गुरुतर तपस्या है इसे सिद्ध करना ही श्रम साध्य है, सिद्ध होने के पश्चात् यह कभी भी न बिगड़ने वाली और बिना साधन-ईंधन के कार्य करने वाली मशीन की तरह व्यक्ति के कार्य सम्पादन करता रहता है। किसी भी समय किसी भी स्थान और स्थिति में मंत्र अलौकिक सहायक की तरह सेवा में तत्पर रहता है। दीक्षा के बिना मंत्रोपासना करने वाला व्यक्ति मरणोपरान्त नरकगामी बनता है। मंत्र दीक्षाहीन व्यक्ति का पिशाचत्व दूर नहीं होता।

यदि कोई व्यक्ति सुनकर अथवा पुस्तकादि की सहायता से ही प्राप्त मंत्र की साधना करता है तो उसे बहुत बड़ा दोष लगता है। जो मंत्र व्यक्ति

के लिए परम कल्याणकारी और कार्यसाधक होता है वह विधिवत् दीक्षा लिए बिना अमंगलकारी बन जाता है। सद्गुरु के पास यथाविधि मंत्र ग्रहण करना मंत्रोपासना के लिए प्रथम और अनिवार्य कर्त्तव्य है।

मंत्र केवल शब्दावली ही नहीं होता, उसके साथ मंत्र का कर्मकाण्ड और व्यक्ति का आचरण जुड़ा हुआ रहता है। मंत्र की लय शब्दों पर किया जाने वाला स्वराघात व बलाघात, मंत्र के अर्थ के अनुसार उसका उच्चारण आदि कई बातें ऐसी होती हैं जो गुरु के मुख से नहीं सुनने से विपरीत फलदायिनी हो सकती हैं।

मैं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यह बात निस्सन्देह रूप से कह सकता हूं कि कई बार अपने अल्पज्ञान के आधार पर पुस्तकों की सहायता मात्र से उग्र शक्ति सम्पन्न मंत्रों का जप करके व्यक्ति अपनी हानि कर बैठे हैं। हमने घर में बिजली लगा ली यही कोई उपलब्धि नहीं हुआ करती, बिजली से विविध प्रकार के कार्य लेने के लिए उसका स्वभाव और कार्यविधि समझ लेना आवश्यक होता है अन्यथा हमारे सारे कर्मों को सम्पन्न करने वाली विद्युत हमारे लिए प्राण लेवा भी सिद्ध हो सकती है।

दीक्षा और गुरु के सम्बन्ध में आज के युग की वर्तमान पीढ़ी के विचार-विश्वास को देखते हुए मेरा अनुभवसिद्ध आग्रह यह है कि तन्त्र शास्त्र युगों पहले, हजारों वर्ष पहले सिद्ध व्यक्तियों द्वारा उपदेशित है। सहस्त्रों वर्षों से उनकी सामयिक व्याख्या एवं युगानुरूप संशोधन करने की चेष्टा की ही नहीं गई, अत: वर्तमान काल में तंत्र भी दुरूह बन गया है। फिर भी ऐसा नहीं है कि आज मंत्र की दीक्षा लेने वाले श्रद्धालु व्यक्ति नहीं है अथवा मंत्रोपदेश करने योग्य व्यक्ति ही नि:शेष हो गए हैं। आज चरित्र और श्रद्धा की कमी हो गई है। विशेष कार्यों के लिए उपास्य मंत्रों के विषय में ही श्रद्धा सहित दीक्षा की आवश्यकता होती है। राम, कृष्ण, हनुमान आदि देवता (ये देवता वेदोक्त नहीं हैं अपने चरित्र एवं शक्ति के कारण देवताओं की श्रेणी में मान लिए गए हैं तथा कलियुग में इनका नाम भी अतिपवित्र माना जा सकता है। इनके चरित्र का पाठ करने से इनके नाम स्मरण से व्यक्ति का कल्याण होता है, मनोकामना सिद्ध होती है) वस्तुत: श्रद्धा सबसे बड़ी गुरु है। श्रद्धा किसी भी प्रतीक के सहारे मुखर हो

कल्याणकारिणी होती है। उदात्त चरित्र वाले अवतारों के चरित्र का मनन-श्रवण करने से व्यक्ति सुचरित्र संपन्न बनता है और सदाचार अपने आपमें एक सिद्धि है। श्रद्धा सहित जप करने से व्यक्ति का जप एवं अनुष्ठान सफल होता है, भले ही वह तुलसीदास की चौपाइयों और हनुमान चालीसा की हिन्दी शब्दावली में ही किया गया हो। शब्दों से अधिक महत्त्व भावना का, श्रद्धा का होता है, अतः सामयिक अवतारों का नाम स्मरण और उनके चरित्रों का श्रवण निःसन्देह रूप से व्यक्ति के लिए कल्याणकर रहता है। इन नाम पर आधारित जपों में सबसे बड़ी विशेषता यह रहती है कि ये चाहे जहां भी किये जा सकते हैं और इनसे व्यक्ति का अनिष्ठ नहीं होता, भले ही ऐसे जपों से भौतिक उपलब्धियां विलम्ब से हों या न हों।

तांत्रिक अनुष्ठानों एवं मंत्रों में केवल भावना ही अन्तिम तत्त्व नहीं हुआ करती जिन साधनों में इच्छा शक्ति एवं आतमविश्वास को उग्र बनाया जाता है उनमें व्यक्ति की शक्तियों का उद्दीपन होता है और यह कार्य आचार-विचार की शुद्धि के साथ आतमविश्वास मात्र में सफल हो जाता है। किन्तु तान्त्रिक मंत्रों में गुरु से दीक्षा ग्रहण करके नियमपूर्वक साधना करने से ही फल मिला करता है। तान्त्रिक मंत्रों में आलौकिक शक्ति हुआ करती है इसलिए उनके साधन में शास्त्रीय निर्देशों का पालन आवश्यक होता है। देवी के एवं तंत्रोक्त मंत्रों के साधन में पूरी सतर्कता बरतना जरूरी होता है और उनसे वैसी ही गुरुतर सिद्धियां भी मिला करती हैं। अन्यथा करने पर उनसे लाभ के स्थान पर हानि हो जाया करती है। योग्य से योग्य व्यक्ति भी असावधानीवश अथवा प्रमाद के वशी-भूत होकर उसके उच्चारण एवं कर्मकाण्ड में त्रुटि करता है तो उसके साधक का स्वास्थ्य क्षीण होने लगता है, उन्माद हो जाता है, जिस कार्य को सिद्ध करने के लिए अनुष्ठान करता है उसका विनाश होने लगता है, अतः शास्त्रोक्त मंत्रों का अनुष्ठान बड़ी सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

तान्त्रिक मंत्रों की साधना मारण-उच्चाटन-विद्वेषण आदि कर्मों में ही विपरीत फलदायिनी नहीं हुआ करती शान्ति-पुष्टि के कर्मों में भी उसका फल प्रतिकूल मिलने लगता है। यह स्वयं सिद्ध बात है कि जिसमें जितनी शक्ति होगी उसके सम्बन्ध में उतनी ही सावधानी रखनी पड़ेगी। अतः मंत्र

दीक्षा, यज्ञ, अनुष्ठान कर्मकाण्ड में पूरी अवधानता रखनी पड़ती है। कष्ट निवारण के लिए, सुख-शान्ति की वृद्धि के लिए, आत्मकल्याण के लिए, सौभाग्यवृद्धि और अरिष्ट भंग के लिए अवतारों के नाम एवं चरित्रों का स्मरण अति लाभदायक रहता है। कोई युग था, जब ज्ञानयोग लोगों के लिए उपादेय था, योग प्राण तत्त्व का संयम-साधना का प्रकार था, किन्तु आज के मायामोह ग्रस्त दुर्बलमना व्यक्ति के लिए भक्ति योग ही सर्वाधिक फलदायी और सुगम रह सकता है। राम नाम का जप या कृष्ण के नाम का स्मरण ही सकल भौतिक विपदाओं से उद्धार कर सकता है।

देवताओं की अथवा अवतारों की सार्थकता इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि वे जनकल्याण के लोक साधना के मूर्तिमान् प्रतीक थे, अतः उनके नाम और चरित्रों का स्मरण व्यक्ति के मंगल के लिए होता है। इनसे कल्याणकारी समाधान और आत्म साक्षात्कार के पथ की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे कार्य नहीं हो सकते। तंत्र शास्त्र में विहित विविध सिद्धियों के लिए ये कारगर साबित नहीं हो सकते। राम का नाम अथवा कृष्ण का चरित्र पीड़ित व्यक्तियों का दुःख मोचन कर सकता है, आततायियों का नाश करने के लिए अभिचार कर्म जैसे प्रयोगों में उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। किसी की इनके जप से यदि अलौकिक अनुभूति होती है तो यह उनकी मानसिक शक्ति का चमत्कार है। मन को अन्तर्मुख बनाने से व्यक्ति आत्म साक्षात्कार के क्षणों को पाकर निहाल हो जाता है।

मंत्र और वर्ण (जाति)—कृत युग, द्वापर और त्रेता तक यह व्यवस्था रही थी कि व्यक्ति ब्राह्मण के न मिलने पर अपने सजातीय अथवा उच्च वर्ण से मंत्र ग्रहण कर सकता था अर्थात् क्षत्रिय क्षत्रिय से, वैश्य क्षत्रिय और वैश्य से और शूद्र वैश्य से दीक्षा ले सकता था किन्तु वर्तमान युग में इतर वर्णों में (ब्राह्मण वर्ण में भी) इतनी संकरता हो गई है कि मंत्रदान का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है। शूद्र शूद्र को मंत्रदान करे तो दोनों नरकगामी होते हैं। आज की परिस्थिति में ब्राह्मण और शूद्र का यह अन्तर असंगति, उत्पीड़न और विचित्रता का कारण लग सकता है किन्तु आज का व्यक्ति सहस्रों वर्ष पूर्व की व्यवस्था के पीछे निहित कारणों का सही विश्लेषण नहीं कर सकता। समाज के कल्याण में निरत, निस्संग

ऋषियों ने वर्ण व्यवस्था को इतना महत्त्व दिया इसमें अवश्य कोई-न-कोई कारण रहा था। सामयिक सन्दर्भ में हम वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि सामाजिक विकास के लिए इस प्रकार की इकाइयों का निर्माण लाभदायक ही रहा था।

दीक्षित होना और मंत्र देना दोनों बड़े पुण्य के कार्य हैं। रुद्र यामल तंत्र में लिखा गया है कि जो द्विजातियों को मंत्रोपदेश करता है वह सब पापों से मुक्त होकर पुण्य का फल प्राप्त करता है।

बीज मंत्र—मंत्रों में बीज मंत्र का सर्वाधिक महत्त्व है। बीज मंत्र वैसे ही सूत्र हैं जैसे आज की बीजगणित में किसी स्थूल पदार्थ के लिए कल्पित अक्षरों के प्रतीक। बीज मंत्र की शक्ति और सफलता आज के वैज्ञानिक सूत्रों की तरह निर्विवाद है, निस्सन्देह है और गणित की तरह सत्य है, पर इन मंत्रों के जप में, उच्चारण में और कर्मकाण्ड में गुरु द्वारा विदिष्ट सावधानी और आस्था रखनी पड़ती है। ऐसा करने पर व्यक्ति की साधना सफल होती है व्यतिक्रम करने पर विपरीत फल मिला करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। बीज मंत्र अपार शक्ति सम्पन्न होते हैं, स्थूल जगत् में वे सीधे प्रभावकारी होता है अतः इनकी दीक्षा, उपासना आदि में पूर्ण जागरूकता बरतना ही कल्याणकर होता है।

चार प्रकार के मंत्र—समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था के अनुसार ही मंत्रों का भी वर्गीकरण किया हुआ है। ब्राह्मण मंत्र, क्षत्रिय मंत्र, वैश्य मंत्र और शूद्र मंत्र—ये चार प्रकार के मंत्र चारों वर्णों के अनुसार दीक्षा और उपासना योग्य माने गए हैं। इन मंत्रों का यह वर्गीकरण उनके आदि में अथवा अन्त में जोड़े जाने वाले बीज मंत्रों के आधार पर किया गया है। जिस मंत्र में चार बीजाक्षर होते हैं वह ब्राह्मण के उपयुक्त है, तीन बीजाक्षरों वाला मन्त्रक्षत्रिय के लिए, द्विबीजाक्षरों वाला मंत्र वैश्य के लिए तथा एक बीजाक्षर वाला मंत्र शूद्र के लिए उपयोगी रहता है।

मंत्रदान में अथवा उपासना में शूद्र को एकबीज वाला मंत्र ही फलदायक होता है, वैश्य को द्विबीज वाला, क्षत्रिय को त्रिबीज वाला और ब्राह्मण को चतुर्बीज वाला। ब्राह्मणादि वर्णों के लिए अपने से न्यून बीज वाले मंत्रों का साध्य भी शास्त्रोक्त है पर जिनको न्यून बीज वाले मंत्रों की

साधना करनी चाहिए उनके लिए अधिक बीज वाले मंत्रों का विधान नहीं है। माया बीज ब्राह्मण जाति का, श्री बीज क्षत्रिय जाति का, कामबीज वैश्य जाति का और वाग्भव बीज शूद्र जाति का माना गया है। जिन मंत्रों में कोई बीज नहीं होता वे पौलस्त्य मंत्र कहलाते हैं। इन पर शूद्र जाति का भी अधिकार है। शूद्रों के लिए प्रणव बीज मंत्र का उपदेश नहीं करना चाहिए। वैसे भी प्रणव बीज गृहस्थी के लिए अनुकूल नहीं रहता। यों दिन में सौ पचास बार प्रणव मंत्र का जप या उच्चारण करने से कोई अन्तर नहीं पड़ता पर इससे अधिक संख्या पहुंचने पर गृहस्थी का जीवन रिक्त होने लगता है। सांसारिक सुखों और सिद्धियों में बाधा पड़ने लगती है—यह अनुभव सिद्ध बात है। जयपुर के विख्यात तान्त्रिक स्वर्गीय श्री हरि-शास्त्री जी ने मेरे इस विचार को सत्य माना था। कालान्तर में कल्याण में जगद्गुरु शंकराचार्य के विचार भी इसी आशय के प्रकाशित हुए थे, अतः इस अनुभव सिद्धता को शास्त्रीय और आप्त वचनों का आधार भी मिल गया था। वास्तव में प्रणव मंत्र—ओंकार का—स्वभाव परमोज्ज्वल है। इस मंत्र के जप से व्यक्ति को आत्मदर्शन होता है। जैसे यह एक ब्रह्म का प्रतीक है वैसा ही यह साधक को भी बना देता है। प्रणव संन्यासियों के लिए परम हितकारी मंत्र है, गृहस्थ के लिए इसका विधान होकर भी देहिक अथवा भौतिक सुख के वृद्धिकर रूप में नहीं है। विगत मध्यकाल में कुछ ऐसी भ्रान्त परम्परायें पड़ीं कि उन्होंने शास्त्र को जीवित रखने के लिए अनर्गल फैशन चला दिए। मेरा आशय प्रणव मंत्र को अनुपयोगी अथवा व्यर्थ सिद्ध करने का नहीं है, बल्कि मेरा निवेदन तो इतना भर है कि प्रणव मंत्र क्षीर सागर है, इसे लोटा भरने के लिए अथवा आंगन धोने के लिए काम में नहीं लिया जाना चाहिए।

मध्यकाल में भारत पर आक्रान्ताओं के कारण बड़ी विपत्ति आई थी। उस समय का लक्ष्य धर्म और संस्कृति पर आघात करना था। अंग्रेजों ने भी हमारे देश के अतीत को और सांस्कृतिक उच्चता को बिगाड़ने का, तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने का षड्यंत्र चालू किया था वह आज भी चालू है। अंग्रेजीयत में पले भारतीय भी उसी दृष्टिकोण से हमारी व उनकी अपनी संस्कृति और इतिहास को देखते-परखते हैं। उस मध्यकालीन

व्यतिक्रम के कारण आज के कर्मकाण्ड में प्रयुक्त नवग्रहों के मंत्र तक असंगत है। ग्रहों के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले मंत्रों में उन ग्रहों का न नाम है, न स्वरूप। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार मंत्र देवता का स्वरूप होता है। जब उस मंत्र में सम्बन्धित देवता के लिए कुछ भी नहीं है तो उसे उपासना और कर्मकाण्ड में मान्यता किस आधार पर मिल गई उस आधार का तो पता चल जाता है लेकिन आजकल उसमें संशोधन करने में बरती गई उपेक्षा का क्या कारण रहा—यह समझ में नहीं आता। जिस ब्राह्मण वर्ग का यह अधिकार और कर्त्तव्य था, जो मंत्रोपासना में सर्वाधिक योग्य व्यक्ति वंश परम्परा के आधार रहते आये उन्होंने भी इस विषय में घोर उपेक्षा बरती जिसका फल है कि यह पवित्र और सत्य शास्त्र ही उपेक्षणीय हो गया। दूसरे, ऐसी भ्रान्त और सदोष उपासना से सिद्धि का नहीं होना ही स्वाभाविक है।

स्त्री और शूद्र वर्ग को प्रणव घटित अथवा प्रणव मंत्र का जप नहीं करना चाहिए। अजपा मंत्र (हंस:) स्वाहान्त मंत्र अथवा ओम्स्वाहा युक्त मंत्र, लक्ष्मी बीज (श्रीं) वाला मंत्र, गुरु मंत्र और सावित्री बीज वाला मंत्र शूद्र और स्त्री के लिए लाभदायक नहीं होता। गोपाल मंत्र, शिव, दुर्गा, गणेश और सूर्य का मंत्र इन वर्गों के लिए कल्याणकारी और सिद्धि दाता होता है, अत: इन देवताओं के मंत्रों की ही उपासना करनी चाहिए। इस प्रसंग में प्रणव, स्वाहा आदि युक्त मंत्रों वाली व्यवस्था भी ध्यान में रखनी चाहिए।

इस शास्त्रीय मर्यादा से शूद्र वर्गों अथवा स्त्री जाति को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यह व्यवस्था ठीक वैसी ही है जैसी किसी विधान सभा में अध्यक्ष, राज्यपाल, सरकारी पक्ष और दूसरे सदस्यों के बैठने की व्यवस्था हुआ करती है। शास्त्रीय दृष्टि अति प्राचीन युग की है, उस समय की सामाजिक व्यवस्था इसे स्वीकार करती होगी। इसके बावजूद भी स्त्रियों और शूद्रों को इतना अयोग्य नहीं माना गया कि उन्हें इस क्षेत्र में आने की आज्ञा ही नहीं थी। बात वास्तव में यह रही थी कि स्त्रियों और शूद्र वर्ग पर सामाजिक जिम्मेदारियां अधिक थीं। वे श्रम जीवी वर्ग का प्रतिनिधित्त्व करते थे, उनका मन बाह्य कर्मों में अधिक लगा रहता

था इसलिए उन्हें इस क्षेत्र में मर्यादित अधिकार थे। शास्त्रों का आशय स्त्री जाति एवं शूद्रों को अपमानित करने का नहीं था, बल्कि इस क्षेत्र की योग्यता, उसका सांसारिक कर्त्तव्यों में व्याप्त रहना आदि आधार ही मान्य रहे थे। स्वकल्याण के लिए उपासना के द्वार कदापि बन्द नहीं रहे फिर साधक को तो कल्याणकारिणी उपासना चाहिए, दूसरे प्रकारों की ठेकेदारी नहीं।

स्वयं शुद्ध मंत्र—सिद्ध सारस्वत तंत्र की व्यवस्था के अनुसार नृसिंह, सूर्य, वराह मंत्रों के शोधन की आवश्यकता नहीं है। प्रसाद बीज (हौं) प्रणव वाले मंत्रों में भी शोधन की आवश्यकता नहीं है। स्वप्नलब्ध, स्त्री-गुरु प्रदत्त, माला मंत्र (जिसमें बीस से अधिक अक्षर हों) त्र्यक्षरी मंत्र और वेदोक्त मंत्रों की शुद्धि और शोधन की आवश्यकता नहीं रहती। मालामंत्र के नपुंसक वर्गी मंत्रों के भी शोधन की आवश्यकता नहीं रहती। शोधन की प्रणाली इसी अध्याय में आगे बताई जाएगी। सूर्य के अष्टाक्षरी, पंचाक्षरी आदि सभी मंत्र स्वयं शुद्ध हैं। मंत्रों का वर्गीकरण स्त्री, पुत्र, और नपुंसक रूप में किया गया है। जिस मंत्र के अन्त में 'हुफट्' का प्रयोग होता है वह पुं मंत्र, जिसमें 'स्वाहा' अन्त में हो वह स्त्री और 'नमः' अन्त वाला नपुंसक मंत्र हुआ करता है।

इस विवेचन के तुरन्त आगे वाले पृष्ठों पर मंत्र-साधना का ज्योतिष् के आधार पर विवेचन किया जाएगा। मंत्र की राशि, नक्षत्र और गणादि का ज्ञान करने से सुगमता और सफलता रहती है, किन्तु काली, तारा, महादुर्गा, त्वरिता, छिन्नमस्ता, वाग्वादिनी, अन्नपूर्णा, कामाख्या, बाला, मातंगी, शीलवाहिनी, भुवनेवरी, धूमावती, बगला, कमला इन महाविद्याओं का मंत्र लेते समय नक्षत्र-राशि आदि का विचार नहीं करना चाहिए। इन मंत्र के शुद्धि संस्कार की आवश्यकता भी नहीं रहती है। कारण, ये स्वभावतः शुद्ध हैं।

मंत्र और ज्योतिष्—इसके बावजूद भी ज्योतिष् की उपेक्षा करना संगत प्रतीत नहीं होता। जिन ऋषियों ने इन देवी स्वरूपों के मंत्र को अनाविल बताया है उन्होंने ही प्रत्येक मंत्र के अनुकूल प्रतिकूल होने के तथ्य का बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया है, अतः साधक अपना और मंत्र का

पारस्परिक सामाञ्जस्य सिद्ध करने वाला सूत्र अवश्य देख-परख ले।

मंत्र का देना कन्यादान जैसी एक व्यवस्था है। शास्त्रों ने मंत्र का और मंत्रग्रहीता का कुलाकुल निश्चय करने के लिए एक विधि बताई है। इससे साधक सरलतापूर्वक जान जाएगा कि कौन-सा मंत्र उसके लिए अनुकूल सदयः फलदाता होगा। इस विधि से विचार किए बिना ग्रहण किया गया मंत्र प्रकारान्तर से हानिप्रद हो जाया करता है, जिसके लिए साधक यह नहीं जान पाता कि साधना सम्यक् प्रकार से करने पर भी क्षीणता और हानि क्यों हो रही है। एक ही सिद्धि के लिए कई प्रकार के मंत्र होते हैं, इसलिए यह बात चिन्ता करने लायक नहीं होती कि कार्य विशेष के लिए साधक को मंत्र मिले ही नहीं। आयुर्वेद में एक ही रोग के लिए अनेक औषधियां होती हैं। अनेक औषधि बताने का अर्थ यही है कि व्यक्ति की प्रकृति के और रोग की स्थिति तथा मौसम के अनुसार औषधि फलदायक हुआ करती है। समझदार चिकित्सक इन सब तथ्यों पर विचार करके चिकित्सा व्यवस्था करता है। मंत्रज्ञ के लिए ये विचार साधक के कार्य, स्थिति आदि की पूर्ण परीक्षा हेतु अत्यन्त आवश्यक हैं।

कुलाकुल चक्र—कुलाकुल चक्र से मिलान करने के लिए पांच कोष्ठकों में अकार से क्ष तक के पचास वर्ग पृथ्वी जल आदि तत्त्वों के साथ वर्गीकरण करके लिखे गए हैं। मंत्र ग्रहण करने वाले व्यक्ति के नाम का पहला अक्षर और मंत्र का पहला अक्षर मिलावें। यदि दोनों अक्षर एक ही कोष्ठक के हों तो स्वकुल के होते हैं अन्यथा अकुल के होते हैं। मान लीजिए कमलनयन का व्यक्ति 'तत्सवितु:' से प्रारंभ होने वाला कोई मंत्र ग्रहण करता है तो यह मंत्र उस ग्रहीता के लिए एक भूत, एकदेवता या स्वकुल होता है। ऐसा मंत्र निश्चित फलदाता होता है। मंत्र और ग्रहीता में प्राकृतिक साम्य मिल जाता है। यदि मंत्र और उपासक का कुल या देवता न मिले तो मित्र कुल का मंत्र ले लेना चाहिए। स्वकुल नहीं मिले तो जल दैवत अथवा वरुण कुल के साथ पृथ्वी तत्त्व अथवा भू दैवत की मित्रता होती है अतः यदि उपासक पृथ्वी तत्त्व के कोष्ठक वाले अक्षरों के नाम वाला है और मंत्र का प्रथमाक्षर जल तत्त्व वाले कोष्ठक के अक्षरों में से है तो यह मित्र कुल माना जाएगा। इसी प्रकार मारुत वर्ग में आने वाले अक्षरों से किसी मंत्र

अथवा साधक का नाम प्रारम्भ होता है तो उसे अग्नि दैवत वाले कोष्ठक अक्षरों से प्रारम्भ होने वाला मंत्र का जप करना चाहिए। आकाश तत्त्व सभी का मित्र है इसलिए आकाश तत्त्व के कोष्ठक में लिखे अक्षर यदि किसी मंत्र अथवा उपासक के प्रथमाक्षर हैं तो वह किसी भी मंत्र को ग्रहण कर सकता है।
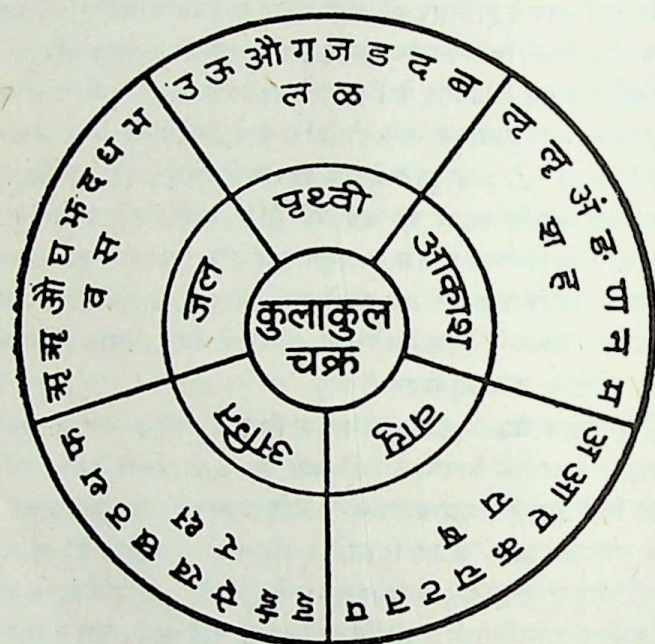
मंत्र के और साधक के शत्रुवर्ग की स्थिति में उपासना नहीं करनी चाहिए। वायु तत्त्व के कोष्ठक के अक्षर यदि किसी मंत्र या साधक के प्रथमाक्षर होते हैं तो उसे पृथ्वी तत्त्व के कोष्ठक में लिखे वर्गों से प्रारम्भ होने वाले अक्षरों का मंत्र नहीं लेना चाहिए। यही स्थिति अग्नि या तैजस् तत्त्व के साथ जल एवं पृथ्वी तत्त्व की होती है। अग्नि तत्त्व के साथ तैजस् और जल तत्त्व की शत्रुता होती है।

राशिचक्र—राशिचक्र देखने का प्रकार है—एक कोष्ठक में राशि का नाम और कुछ अक्षर लिखे हुए हैं। साधना करने वाला व्यक्ति अपने जन्म

राशि (जन्म की राशि का ज्ञान न रहे तो प्रचलित नाम से राशि का ज्ञान कर ले) से मंत्र जिन अक्षरों से प्रारम्भ होता है उस कोष्ठक तक गिन ले। यदि वह स्थान आठवां, छटा और नवां राशिस्थ हो तो ऐसे मंत्र का परित्याग कर दे। मान लीजिए किसीकी जन्म राशि अथवा राशि मीन है

राशि चक्र
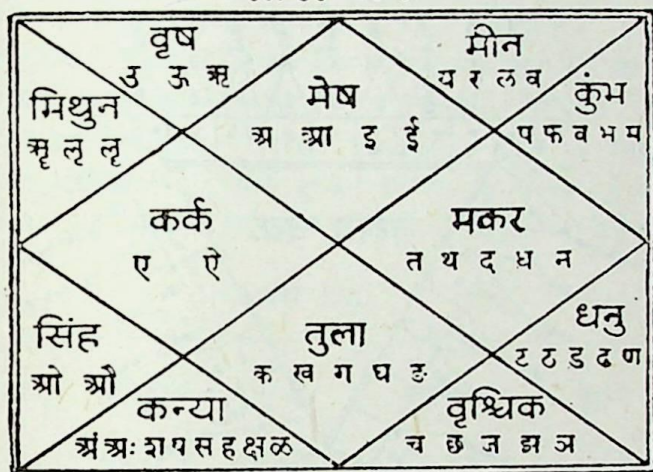
और उसे 'च' से प्रारम्भ होने वाला मंत्र लेना है। मीन राशि से 'च' पांचवी राशि पर पड़ता है। इसी विधि से आगे लिखी बातों का विचार करे। जन्म राशि से पहली, पांचवी और नवीं राशि पर स्थित मंत्र मित्रवत् हितकर रहता है। दूसरी, छठी, दसवीं राशि स्थित मंत्र सिद्धिदाता, तीसरी, सातवीं और ग्यारहवीं राशि स्थित मंत्र पुष्टिकर, चौथी, आठवीं, बारहवीं राशि स्थित मंत्र घातक होता है।

इन बारह कोष्ठकों को लग्न, धन, भाई, बन्धु, पुत्र, शत्रु, स्त्री, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय का प्रतीक माना गया है। जिस कोष्ठक में जो स्थान माना गया है। उस मंत्र के जपने से वही सिद्धि मिला करती है।

नक्षत्र चक्र—नक्षत्र चक्र में दो प्रकार से गणना की जाती है। यदि मंत्र ग्रहण करने वाले व्यक्ति का जन्म नक्षत्र और उस मंत्र के प्रथमाक्षर

वाले कोष्ठकों का गण मिलता है तो यह सुन्दर बात है। देवगण वाला देव-गण वर्ग का मंत्र लेता है तो सद्य: सिद्धि मिलती है ऐसे ही राक्षस गण-वाला राक्षस गण का ले तो भी देवगण वाला मनुष्य गण के मंत्र को ग्रहण कर सकता है किन्तु साधक और मंत्र के गण मानुष और राक्षस हों तो विनाश तथा देव और राक्षस गण हों तो शत्रुता होता है। दूसरा मंत्र

और नक्षत्र मिलाने का तरीका यह है कि साधक अथवा मंत्र के नक्षत्र से मंत्र अथवा साधक के नक्षत्र तक की गणना करे, नौ के बाद फिर एक से करे, ऐसा करने पर तीसरे, पांचवें और सातवें नक्षत्र पर आवे तो उसका परित्याग कर दे। दूसरे, चौथे, छठे, आठवें और नवें नक्षत्र स्थित मंत्र शुभ होते हैं। मान लीजिए किसी व्यक्ति का जन्म नक्षत्र चित्रा है और उसे रेवती नक्षत्र में लिखित अक्षरों से प्रारंभ होने वाला मंत्र लेना है तो चित्रा से श्रवणा तक नौ हो गए इसके बाद फिर एक से गिनने पर रेवती पांचवें स्थान पर आता है अत: इस मंत्र का परित्याग करना ही उचित है। वैसे भी चित्रा का राक्षस और रेवती का देवगण है अत: दोनों दोष हैं।

मंत्र ग्रहण में मास—मंत्र ग्रहण में महीनों का महत्त्व है। चैत्र में मंत्र लेने से सर्व सिद्धि, वैशाख में धन लाभ, ज्येष्ठ में मरण, अषाढ में स्वजन हानि, श्रावण में दीर्घायु, भादों में सन्तान नाश, आश्विन में रत्नलाभ, कार्तिक और मार्गशीर्ष में मंत्रसिद्धि, पौष में शत्रुवृद्धि और पीड़ा माघ में बुद्धि का विकास और फाल्गुन में सर्वमनोरथ सिद्धि होती है। मल मास में कोई भी मंत्र नहीं लेना चाहिए।

अपवाद—अपवाद के रूप में शास्त्रों की निम्न व्यवस्था है—

चैत्र मास में केवल गोपाल मंत्र लेना ही श्रेयस्कार रहता है ! आषाढ मास में भी विद्या का मंत्र ग्रहण करना ही अनुचित है शेष मंत्र नहीं।

मंत्र ग्रहण में वारफल—रविवार को मंत्र लेने से धन लाभ, सोमवार को शान्ति, मंगलवार को आयुक्षय, बुधवार को श्री वृद्धि, गुरुवार को ज्ञान लाभ, शुक्रवार को सौभाग्य हानि और शनिवार को अपकीर्ति होती है।

वार फल

वार नाम	रविवार	सोमवार	मंगलवार	बुधवार
फल	धन लाभ	शान्ति	आयुक्षय	श्री वृद्धि

वार नाम	गुरुवार	शुक्रवार	शनिवार
फल	ज्ञान प्राप्ति	भाग्य हानि	अपकीर्ति

मंत्र ग्रहण में तिथिफल—प्रतिपक्ष में मंत्र लेने से ज्ञान नाश, दोज में ज्ञानवृद्धि, तीज में शील वृद्धि, चौथ में धन हानि, पंचमी में बुद्धि विकास, षष्ठी में बुद्धिनाश, सप्तमी में सुख प्राप्ति, अष्टमी में बुद्धि विनाश, नवमी में स्वास्थ्य हानि, दशमी में राज्य व सम्मान लाभ, एकादशी में पवित्रता

लाभ, द्वादशी में सर्वार्थ सिद्धि, त्रयोदशी में दरिद्रता, चर्तुदशी में पक्षी योनि में जन्म, अमावस में कार्य हानि और पूर्णमामी में धर्मवृद्धि होती है।

तिथि फल

तिथि	प्रतिपदा	दोज	तीज	चतुर्थी	पंचमी
फल	ज्ञाननाश	ज्ञानवृद्धि	शीलवृद्धि	धन हानि	बुद्धिविकास

तिथि	षष्ठी	सप्तमी	अष्टमी	नवमी	दशमी
फल	बुद्धि नाश	सुख	बुद्धि नाश	रोग	राज्य लाभ

तिथि	एकादशी	द्वादशी	त्रयोदशी
फल	पवित्रता लाभ	सर्वसिद्धि	दरिद्रता

तिथि	चतुर्दशी	पूर्णिमा	अमावस्या
फल	पक्षीयोनी में जन्म	धर्म वृद्धि	कार्य हानि

संध्या के समय, बादलों के गर्जन के समय भूकम्प और उल्कापात के समय मंत्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। छठ और तेरस के दिन विष्णु मंत्र का निषेध है दूसरे मंत्र का नहीं है। दोज, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, दशमी,

तेरस और पूर्णिमा में मंत्र ग्रहण श्रेयस्कर रहता है। शिव मंत्र षष्ठी में लेने में कोई दोष नहीं होता।

मंत्र ग्रहण में नक्षत्र—अश्विनी नक्षत्र में मंत्र लेने से शुभ, भरणी में मरण, कृतिका में दुःख, रोहिणी में ज्ञानलाभ, मृगशिरा में सुख, आर्द्रा में बन्धुनाश, पुनर्वसु में धनलाभ, पुष्य में शत्रुनाश, अश्लेषा में मृत्यु, मघा में दुःखनाश, पू० फाल्गुनी में श्रीवृद्धि, उ० फाल्गुनी में ज्ञान, हस्त में धन लाभ, चित्रा में ज्ञान लाभ, स्वाति में शत्रुनाश, विशाखा में दुःख, अनुराधा में बन्धु लाभ, ज्येष्ठा में पुत्र हानि, मूल में यशलाभ, श्रवण में दुःख, धनिष्ठा में दरिद्रता, शतभिषा में बुद्धि लाभ, पू० भाद्रपद में सुख और रेवती में कीर्ति लाभ होता है।

आर्द्रा और कृतिका नक्षत्र में शिव और सूर्य मंत्र को तथा ज्येष्ठा और भरणी में राम मंत्र को लेने से उक्त फल मिलता है।

नक्षत्र फल

नक्षत्र	अश्विनी	भरणी	कृतिका	रोहिणी
फल	शुभ	मरण	दुःख	ज्ञानलाभ

नक्षत्र	मृगशिरा	प्रार्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	अश्लेषा
फल	सुख	बन्धुनाश	धनलाभ	शत्रुनाश	मृत्यु

नक्षत्र	मघा	पूर्वा फाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी	हस्त
फल	दुःखनाश	श्रीवृद्धि	ज्ञानलाभ	धनलाभ

नक्षत्र फल

नक्षत्र	चित्रा	स्वाति	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा
फल	शत्रुनाश	शत्रुनाश	दुःख	बन्धुलाभ	पुत्रहानि

नक्षत्र	मूल	श्रवण	धनिष्ठा	शतभिषा	पूर्वाभाद्रपद
फल	यशलाभ	दुःख	दरिद्रता	बुद्धि विकास	सुख

नक्षत्र	उत्तराभाद्रपद	पूर्वाषाढ	उत्तराषाढ	रेवती
फल	कीर्ति	अशुभ	श्रीनाश	कीर्तिलाभ

मंत्र और योग—प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, धृति, वृद्धि, ध्रुव, सुकर्मा साध्य, शुक्र; हर्षण, वरीयान्, शिव, ब्रह्मा और इन्द्र ये सोलह योग मंत्र ग्रहण में शुभ एवं सिद्धिदाता हैं।

मंत्र और करण—बव, बालव, कौलव, तैतिल और वणिज ये पांचों शुभ हैं। शुक्ल पक्ष में मंत्र लेना शुभ होता है। कृष्ण पक्ष की पंचमी तक मंत्र लेना शुभफलदायी होता है। सम्पत्ति एवं भौतिक सिद्धि प्राप्त करने वाले को शुक्ल पक्ष में तथा मुक्ति चाहने वाले को कृष्ण पक्ष में मंत्र ग्रहण करना चाहिए।

अपवाद—निषिद्ध मास में भी विशिष्ट तिथियों में मंत्र ग्रहण करने की व्यवस्था रत्नावली तन्त्र में इस प्रकार दी गई है। भाद्रपद मास की दोनों पक्ष की षष्ठी, आश्विन की कृष्ण चतुर्दशी, कार्तिक की शुक्ल नवमी, चैत की काम चतुर्दशी, वैशाख की अक्षय तृतीया, ज्येष्ठ मास की दशमी, आषाढ की शुक्ल पंचमी, श्रावण की कृष्ण पंचमी में नक्षत्र अनुकूल नहीं

होने पर भी मंत्र देने में कोई दोष नहीं है।

इसके अलावा चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, वैशाख शुक्ला एकादशी, ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी, आषाढ की नाग पंचमी, श्रावण की एकादशी, भाद्रपद जन्माष्टमी, आश्विन कृष्णा अष्टमी, कार्तिक शुक्ल नवमी, मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी, पौष की चतुर्दशी, माघ शुक्ला एकादशी फाल्गुन शुक्ला षष्ठी मंत्र ग्रहण में पूर्वोक्त प्रकार के शुभ फल देने वाली मानी गई हैं।

संक्रान्ति के समय, चन्द्र सूर्य ग्रहण के समय और युगादया तथा मन्वन्तरा तिथि में मंत्र लेने में कोई विचार नहीं करना चाहिए। ये तिथियां स्वभाव से पवित्र हैं।

सोमवती अमावस्या, मंगलवार में पड़ने वाली चतुर्दशी और रविवार में पड़ रही सप्तमी तिथि को मंत्र लेने से भी विशेष फल मिलता है इसमें नक्षत्रादि की गणना नहीं की जाती है। रुद्रयामल तंत्र में लिखा है कि गंगा के तट पर अत्यन्त पवित्र तीर्थ स्थान में, कुरुक्षेत्र में, प्रयाग में, काशी में अथवा अन्य किसी प्रसिद्ध तीर्थस्थल, पर तिथि नक्षत्र आदि का विचार मंत्र ग्रहण करने में नहीं किया जाता।

गोशाला, गुरु का घर, देव मन्दिर, जंगल, बगीचा, तीर्थक्षेत्र, नदी का तट, इमली के पेड़ के निकट, पहाड़ की चोटी, पर्वत की गुफा और गंगा का तट मंत्र ग्रहण करने के सर्वश्रेष्ठ स्थान हैं।

गया, सूर्यक्षेत्र, विरजातीर्थ, चन्द्र पर्वत, चट्टग्राम, मातंग देश और अपनी पुत्री के घर पर लिया गया मंत्र निष्फल होता है।

इन सारे विवेचनों के सार में शास्त्र यह भी निर्देश देता है कि यदि गुरु किसी साधक को मंत्र देने की कृपा करता है तो साधक को तिथि, वार, नक्षत्र, स्थान आदि का कुछ भी विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरु साधक के हित सर्वाधिक विचारता है तथा गुरु अशुभ समय में मंत्र दीक्षा करने की गलती नहीं कर सकता। फिर भी यदि आपत्कालिक स्थिति में गुरु मंत्रोपदेश करता है तो शिष्य का यह धर्म है कि बिना किसी विचार के श्रद्धापूर्वक मंत्र ग्रहण कर ले। कारण यही है कि गुरु मंत्र सिद्ध होता है और उसकी तपस्या के कारण सभी ग्रह नक्षत्रादि अनुकूल हो जाते हैं अतः समय, स्थान आदि का विचार व्यर्थ रहता है।

मंत्रदान विधि—शास्त्रीय व्यवस्था यह है कि मंत्र जिस दिन देना हो उससे पहले दिन शिष्य को बुलाकर गुरु अपने पास रखे और 'ओम् हिलि-हिलि शूलपाणाये स्वाहा' इस मंत्र का उपदेश करे। शिष्य इस मंत्र का जप करे और स्वप्नाधिपति भगवान शूलपाणि का जप करता हुआ देवस्थान में भगवान शंकर की मूर्ति को पसवाड़े करके सो जाए। रात्रि में जो स्वप्न दीखे उससे मंत्र की सिद्धि अथवा असिद्धि का अर्थ लगा ले। स्वप्न में कन्या, छत्र, रथ, दीपक, भव्य भवन, कमल के पुष्प, नदी, हाथी, बैल, माला, समुद्र, सर्प, पर्वत, घोड़ा, यज्ञ का मांस और मद्य देखने से स्वप्न का आशय मंत्र साधक के अनुकूल है। ऐसी स्थिति में किया गया अनुष्ठान सफल होता है।

प्राचीन काल में लोगों की चित्त शुद्धि रहा करती थी और गुरु भी तपस्वी रहा करते थे इसलिए प्रथम रात्रि के जप में ही मंत्र से दृष्टान्त हो जाया करता था। आज मेरी समझ में उपरिलिखित मंत्र स्वप्न साधन का मंत्र है इसलिए यह मंत्र एक रात्रि के प्रयोग से ही इस रूप में सफल दृष्टान्त कर पाए—यह अपवाद रूप में ही संभव है फिर गुरु कृपा सबसे बड़ी बात है अन्यथा इस मंत्र के अनुष्ठान से स्वप्न सिद्धि का प्रयोग किया जाता है और साधक को स्वप्न में ही सन्देह मिल जाता है जिसे तुरन्त उठकर लिख लेना होता है, नहीं लिख पाने पर लाख कोशिश करने पर भी वह सन्देश याद नहीं रहता—यह तथ्य परीक्षण करने पर सामने आया है इसकी साधना यथास्थान बताई जाएगी।

मंत्र शास्त्र में भौतिक दृष्टि से और सांसारिक सिद्धियों के विचार से समस्त कर्मों को छः भागों में विभाजित किया है। मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण और वशीकरण। इन कर्मों से भिन्न सिद्धियों के लिए विस्तृत विवेचन मंत्र और ज्योतिष् शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इस भिन्न विवेचन में दोनों ही बातें हैं, इन कर्मों में सफलता देने वाले मंत्रों की साधना भी और सिद्ध मंत्रों का कार्य सम्पादन के लिए प्रयोग भी।

मंत्र और ऋतु—चैत्र-वैशाख अर्थात् वसन्त ऋतु में आकर्षण वशीकरण कर्म, ज्येष्ठ-आषाढ़ अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में विद्वेषण, श्रावण-भाद्रपद अर्थात् वर्षाऋतु में स्तंभन, आश्विन-कार्तिक अर्थात् शिशिर ऋतु में

मारण, मार्गशीर्ष-पौष में शान्ति कर्म और माघ-फाल्गुन अर्थात् हेमन्त ऋतु में पुष्टि कर्म करने चाहिए।

शास्त्रों के उक्त प्रकार के वर्गीकरण सामान्य बुद्धि से भी तत्-तत् प्रायोगों के लिए उपयुक्त ऋतुयें हैं। हमारी आन्तरिक प्रकृति बाह्य प्रकृति के साथ एकरूप हो जाती है। हमारे शरीर पर वातावरण की अनुकूलता बहुत प्रभावशाली रूप से सफलता प्रदान करने के लिए तत्पर रहती है। आयुर्वेद की दृष्टि से तथा शरीर की प्रकृति की दृष्टि से वसन्त ऋतु की मादकता, आकर्षण-वशीकरण के लिए उपयुक्ततम रहती है। वसन्त ऋतु में समस्त चराचर कफ प्रकृति के उग्र रहने के कारण रजोगुण से ग्रस्त रहते हैं। रजोगुण होता है सृष्टि का चालक। व्यक्ति की चित्तवृत्ति में विलास और कामुकता का प्रभाव बढ़ा रहता है इसलिए वाह्य प्रकृति द्वारा बढ़ावा देने पर आकर्षण-वशीकरण सरल-स्वल्प समय साध्य हो जाता है। जिस पर प्रयोग करना हो वह मन से श्रृंगारिक अनुभूतियों से अनुप्राणित तो प्रकृति के प्रभाव से ही रहता है ऐसे समय में मंत्र उस व्यक्ति की विचार-धारा को व्यक्ति विशेष की ओर आकृष्ट कर देता है। ग्रीष्म ऋतु में स्वाभाविक रूप से रूक्षता रहती है। संसार को संयोजन करने की क्षमता सरसता स्नेहशीलता में रहती है। ग्रीष्म में सारा स्नेह सूख जाता है, जलाशयों में मिट्टी तड़क जाती है, पादप सूख जाते हैं अतः ऐसी ऋतु में विद्वेषण कर्म बाह्य प्रकृति के बढ़ावे से शीघ्र सम्पन्न होता है। वर्षाऋतु में यद्यपि प्रकृति जलधाराओं से चलायमान बन जाती है पर इस समय धरती माता ऋतुमयी होती है और गर्भ धारण किया करती है। समस्त वनस्पतियां और नाना प्रकार के पेड़-पौधे इसी ऋतु के फल होते हैं अतः स्तम्भन इस ऋतु का प्रकृति-सिद्ध कर्म है। हेमन्तादि ऋतुओं में पुष्टि कर्म का आधार भी ऐसी ही अन्तर्बाह्य की स्वाभाविक प्रतीति प्रकृति का रहस्य है जिसे हम जानते हैं।

एक दिन में भी छः ऋतुयें भोगी जाती हैं इसलिए जिसे मंत्र सिद्ध है वह उन कर्मों के लिए उस समय साधन कर ले जो समय उस कार्य के लिए ऊपर बताया गया है। दिन मान में ऋतुओं का क्रम इस प्रकार है—दोपहर से पहले वसन्त, मध्याह्न में ग्रीष्म, तीसरे पहर में वर्षा, संध्या काल में

शिशिर, अर्ध रात्रि में शरद और उषाकाल में हेमन्त ऋतु रहती है।

मंत्र और तिथि—ऋतु के अनन्तर तिथियों का विचार किया जाता है। वशीकरण में सप्तमी, आकर्षण में तृतीया और त्रयोदशी, उच्चाटन में द्वितीया और षष्ठी, स्तम्भन में चतुर्थी, चतुर्दशी और प्रतिपदा, सम्मोहन में अष्टमी और नवमी, मारण में पंचमी, एकादशी, द्वादशी और पूर्णिमा तिथि सिद्धिदायक रहती हैं।

मंत्र और वार—शनिवार को वशीकरण, रवि को मारण, बुध को उच्चाटन, मंगल को विद्वेषण, शुक्र को सम्मोहन, गुरुवार को आकर्षण और सोमवार को स्तम्भ करना आशु सिद्धिदायक रहता है।

यद्यपि ज्योतिष की दृष्टि से वार और तिथि युक्त मुहूर्त मिलना सरल नहीं होता क्योंकि ऋतु दो महीने तक चलती है और तिथि, वारादि अत्यल्प कालिक होते हैं। किसी दिन वार मिल जाता है तो तिथि नहीं मिलती और तिथि मिल जाती है तो वार नहीं मिलता पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि अपेक्षित मुहूर्त आता ही नहीं है अथवा सर्वशुद्ध मुहूर्त के बिना एक या दो आधारों के मिलने पर प्रयोग किया ही नहीं जाता। ऋतु में तिथि उपयुक्त मिलती है और वार विपरीत प्रभावकारी नहीं है तो अनुष्ठान करने में कोई दोष नहीं होता इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि वशीकरण का प्रयोग करने वाले को वसन्त ऋतु में उपयुक्त तिथि को अपना अनुष्ठान कर देना चाहिए लेकिन ऐसा न हो कि उस तिथि को मारण या विद्वेषण कर्म के उपयुक्त वार पड़ रहा हो। साधारण रूप से तिथि वार आदि को क्रमिक महत्त्व दिया जाना चाहिए पर अभीष्ट मुहूर्त महीनों तक नहीं मिले तो उसमें एक पाद की अनुपयुक्ता—दोष या विरोध पूर्णतः नहीं—भी चल सकती है।

इन षट कर्मों के अतिरिक्त अनुष्ठानों में तारा नक्षत्र, कुलाकुलादि चक्रों का मिलान करके देख लेना अधिक सुन्दर रहता है। मंत्र के सम्बन्ध में भारतीय ऋषि बहुत सावधान थे, क्योंकि यह सूक्ष्म का विज्ञान था। शब्द के सहारे ध्वनि के प्रतीकों और मानवीय विद्युत के जागरण से वातावरण किंवा स्थूल जगत् की वैद्युतिक व्यवस्था से विविध कार्य सम्पादन करने का अतीन्द्रिय साधन था इसलिए सर्वांग शुद्धता प्राप्त करने का

आग्रह ऋषिजनों का अवश्य था और इसके लिए उन्होंने सभी सम्बन्धित अंगों की छान-बीन की थी। विश्वास और अनुभव के आधार पर यदि मंत्र के सम्बन्ध में वर्णित सभी सावधानियों को बरता जाता है, अनुकूलता-प्रतिकूलता का विचार करके देख लिया जाता है तो व्यक्ति को मंत्र की साधना में कोई सन्देह नहीं रहता तथा वह उपलब्धि चिर स्थायी रहती है। मुहूर्त के साथ ही अपना चन्द्रमा आदि भी देख लें। यथाशक्ति इन पूर्व साधनाओं और सावधानियों के साथ ग्रहण किया गया मंत्र सिद्ध देवता की तरह सहायक होता है और देवताओं को सत्यसन्ध बतलाया गया है वे सदा साधक का कार्य पूरा करने में तत्पर रहते हैं।

मंत्र के दोष—ग्रहीत मंत्र के अनुष्ठान करते समय साधक का कर्त्तव्य होता है कि मंत्र दोषों का सावधानीपूर्वक निराकरण कर ले। मंत्र के अर्थात् मंत्रोपासक के आठ दोष होते हैं। पहला दोष है अभक्ति। यद्यपि इस पुस्तक के पाठक अब तक मंत्र के भाषा शास्त्रीय, वैज्ञानिक और यतिपरक विश्लेषण को पढ़ चुके हैं और इन रहस्यों को समझ लेने के पश्चात् मंत्रों को केवल शब्द समूह या भाषा के वाक्य मात्र मान लेने की भूल वे नहीं कर सकते फिर भी यदि कोई व्यक्ति मंत्र को भाषा मात्र समझता है तो यह अभक्ति है। किसी दूसरे के मंत्र को श्रेष्ठ और अपने को निम्नकोटि का मानता है तो यह भी अभक्ति है अर्थात् इन दोनों स्थितियों में मंत्र में मंत्र भावना और श्रद्धा नहीं रह पाती। श्रद्धा नहीं होने से मंत्र की साधना फलवती नहीं होती।

अक्षर भ्रान्ति—साधना का दूसरा दोष है अक्षर भ्रान्ति। साधक भ्रमवश अक्षरों में विपर्यक कर जाय अथवा अधिक जोड़ दे तो अक्षर-भ्रान्ति दोष होता है। उदाहरण के लिए 'भार्या रक्षतु भैरवी' के स्थान पर 'भार्या भक्षतु भैरवी' का जप अक्षर भ्रान्ति के दोष में ही गिना जाएगा।

लुप्त—तीसरा दोष लुप्ताक्षरता का है। साधक मंत्र ग्रहण करने के समय असावधानीवश या जप करते समय किसी अक्षर को भूल जाता है, छोड़ देता है तो लुप्त दोष होता है।

छिन्न—मंत्र में प्रयुक्त सयुक्त अक्षर का एक अंश टूटता हुआ-सा हो

तो छिन्न दोष होता है ।

ह्रस्व—दीर्घ वर्ण के स्थान पर ह्रस्व वर्ण का प्रयोग ह्रस्व दोष होता है । मारवाड़ी लोग गधे को गदा बोलते हैं यहां ध के स्थान पर द का प्रयोग अथवा पंजाबियों के छुट्टी शब्द को छुटि बोलने में ह्रस्व दोष होता है। भाषा में कुछ भी होता हो मंत्र व्यवहार के कारण ध्वनि और रूप में परिवर्तन धर्मा नहीं होते इसलिए जो अक्षर जिस रूप में, जिस लय में बोला जाता है उसीमें बोला जाना चाहिए । किसी दीर्घ मात्रा को ह्रस्व मात्रा के रूप में बोलना भी इसी दोष के अन्तर्गत आता है ।

दीर्घ—ह्रस्व से विपरीत स्थिति वाला दीर्घ दोष हुआ करता है । छोटी मात्रा को बड़ी मात्रा के रूप में बोलने पर अथवा अल्प प्राण अक्षरों को महाप्राण की तरह बोलने पर दीर्घ दोष होता है ।

कथन—मंत्र एक नितान्त गुप्त रहस्य है । मंत्र शब्द का दूसरा अर्थ गोपन ही होता है अतः मंत्र का प्रकाशन कथन दोष की श्रेणी में आता है । किसी भी स्थिति में व्यक्ति को अपना मंत्र प्रकाशित नहीं करना चाहिए ।

स्वप्न कथन—यदि कोई व्यक्ति अपने मंत्र को स्वप्न में किसी दूसरे को बतलाता है तो स्वप्न कथन का दोषी होता है ।

इन दोषों के विभिन्न फल सामने आते हैं । कई बार साधक को चित्त विक्षेप हो जाता है, किसी का शरीर क्षीण होने लग जाता है, किसी को अर्थ हानि होती है, किसी के परिवारजनों को आधि-व्याधि सताने लगती है अर्थात् जो मंत्र व्यक्ति के कल्याण का मार्ग खोलता था, ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करता था वही अशुभ बन गया । नियमपूर्वक उपासना करने पर भी यदि विपरीत लक्षण और अशुभ फल मिलता है तो व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मंत्र का और साधना का आत्म-निरीक्षण करे और उपर्युक्त दोषों में से कोई दोष दिखाई दे तो उसका प्रायश्चित करके विधिपूर्वक पुनः अनुष्ठान करे इन प्रायश्चितों का विवरण क्रमशः दिया जा रहा है ।

दोष निवारण—अभक्ति होने पर (कई बार साधक अन्य मनस्क होकर जप करता है और उसे अपेक्षित समय में सफलता नहीं मिलती तो उसे अपने मंत्र के प्रति अरुचि हो जाती है) साधक को बहु जप, होम और

चान्द्रायण आदि व्रत करके दूर रहना चाहिए। व्रत-उपवास से काया निर्मल होगी और वह जप से मंत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी जव श्रद्धा का उदय हो जाए तो मंत्र साधन पुनः विधिवत् प्रारम्भ कर देना चाहिए। ऐसा करने पर मंत्र की सिद्धि शीघ्र ही होती है।

अक्षर भ्रान्ति होने पर व्यक्ति अपने गुरु के पास जाकर पुनः मंत्र ग्रहण करे। गुरु के न होने पर गुरु पुत्र से, गुरु पुत्र भी सुलभ न हो तो गुरु के कुलवाले किसी योग्य व्यक्ति से और वह भी न मिले तो किसी सदाचारी और गुरु पद के उपयुक्त व्यक्ति से पुनः मंत्र ग्रहण करे। शेष दोनों के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है।

मंत्र के संस्कार—मंत्र के दस संस्कार होते हैं। जनन, जीवन, ताड़न, बोधन, अभिषेक विमलीकरण, आप्पायन, तर्पण, दीपन और गुप्ति। जनन-संस्कार के लिए कुंकुम, रक्त चन्दन अथवा भस्म द्वारा धातु पात्र में मातृका यंत्र अंकित करे। शक्ति मंत्र से रक्त चन्दन और शिव मंत्र से भस्म द्वारा मातृका यंत्र लिखकर मंत्र का संस्कार करे। 'है सौ' इस मंत्र को कर्णिका करके दो-दो स्वर द्वारा केसर अंकित करना चाहिए फिर आठ पत्तों वाला कमल लिखकर उन पर अष्टवर्ग लिखे, पद्म के बाहर की ओर एक चतुष्कोण और चार द्वार बनावे। यंत्र के चारों ओर 'वं' और चतुष्कोण के कोणों में 'ठं' लिखना चाहिए। तदन्तर क से म तक भाषा के पांचों वर्ग य से व तथा श से ह तक और ल तथा क्ष वर्णों को पूर्व की ओर से प्रारम्भ करके ईशान कोण तक अष्ट दल पद्म के आठों पत्तों की आकृतियों पर लिखे। चतुष्कोण में 'ठं' और चतुर्द्वार में 'वं' लिखे। इस यंत्र को उक्त प्रकार से पूर्ण करने पर मंत्र का जनन संस्कार होता है।

उपरिलिखित यंत्र में वर्णित सभी अक्षरों को 'ओं' के साथ जोड़ कर एक-एक अक्षर का सौ-सौ बार जप करने से मंत्र का जीवन संस्कार होता है। कोई-कोई इस जप संख्या को सौ के स्थान पर दस भी बताते हैं। मंत्र का तीसरा संस्कार ताड़न होता है। ताड़न में मंत्र के सभी अक्षरों को किसी पात्र में रक्त चन्दन अथवा कुंकुम से लिखकर प्रत्येक वर्ण को किसी भी चन्दन के पानी से 'वं' वोलकर (बोलता हुआ) प्रत्येक अक्षर को सौ बार ताड़ित करे यही ताड़न संस्कार कहलाता है।

बोधन संस्कार में मंत्र के अक्षरों को पृथक्-पृथक् लिखकर मंत्र में जितने अक्षर हों उतने ही लाल कनेर के पुष्पों से प्रत्येक अक्षर का हनन करे। हनन करते समय लाल कनेर के पुष्पो के साथ 'रं' बीज मंत्र का जप करता जाये।

मंत्र का छठा संस्कार है अभिषेक। इसमें भी मत्र के सभी अक्षरों को लिखकर मंत्र के अक्षरों की जितनी संख्या है उतने लाल कनेर के पुष्प (मान लीजिए किसी मंत्र में दस अक्षर हैं तो प्रत्येक अक्षर के लिए दस-दस पुष्प लेने होंगे और प्रत्येक अक्षर पर उस मंत्र के उच्चारण के साथ ताड़ित या हत करने होंगे इस तरह कुल एक सौ फूल होंगे) द्वारा 'रं' इस बीज मंत्र से सभी वर्णों को अभिमंत्रित करके पीपल के पत्ते से मंत्र के जितने अक्षर हों उतने ही बार पानी से सींचना पड़ेगा यही अभिषेक संस्कार है।

विमलीकरण संस्कार में व्यक्ति को अपने अतएव अपने उपास्य मंत्र संसर्ग दोष जनित, कायिक, वाचिक और मानसिक मलों को दूर करना पड़ता है। अभीष्ट मंत्र के दिव्य स्वरूप का सुषुम्णा नाड़ी के मूल और मध्य में ध्यान करे तथा 'ओम् ह्लौं' इन बीज मंत्रों का जप करने से व्यक्ति के तीनों मल धुल जाते हैं। इस विधि से मंत्र का विमलीकरण होता है। तीन प्रकार के मलों के सम्बन्ध में शास्त्रांतरों में लिखा है कि स्त्री संसर्ग से प्राप्त मल मायिक होते हैं, पुरुष में उत्पन्न होने वाले मल कर्मण कहलाते हैं तथा दोनों मलों के संयुक्त रूप को आनव्य मल कहते हैं। उपरिलिखित विधि से ये तीनों मल नष्ट हो जाते हैं और मंत्र का विमलीकरण हो जाता है।

सोना और कुशा अथवा पुष्प मिले पानी से 'ओम् ह्लौं' इस ज्योतिमय मंत्र द्वारा नष्ट करने को आप्यायन कहा जाता है।

तर्पण संस्कार में ज्योतिमय मंत्र में देय मंत्र की अक्षरों की संख्या जितनी बार ही प्रत्येक वर्ण का तर्पण करना पड़ता है। अर्थात् मूल ध्यान ज्योतिमय मन्त्र में रहे और तर्पण अभीष्ट मंत्र का किया जाए। जिस तरह कोई व्यक्ति किसी कुर्सी पर बैठा हुआ है तो कुर्सी के ध्यान सहित उस व्यक्ति का चिन्तन करना। तर्पण में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि शक्ति मंत्र में शहद् से, विष्णु मंत्र में कपूर मिले पानी से और शिव मंत्र में

दूध से। अभिषेक संस्कार में भी यह व्यवस्था समीचीन रहेगी।

दीपन में 'ओम् ह्रीं श्रीं' इन मंत्रों के जप के साथ साधक श्रद्धा के साथ यह भावना करे कि इस समय जप से उसका मंत्र परम तेज सम्पन्न हो रहा है।

दसवां साधन है गुप्ति। मंत्र इतना गोपनीय होता है कि उसे स्वप्न में भी किसी को कहने पर दोष लगता है अतः प्रयत्नपूर्वक मंत्र को गुप्त रखने को ही गुप्ति कहते हैं। किसी भी स्थिति में मंत्र को प्रकाशित नहीं करने से उसका गुप्ति संस्कार होता है।

उपर्विणित संस्कारों की सामान्य स्थिति में कोई आवश्यकता नहीं होती। गुरु के द्वारा विधिपूर्वक दिया गया और शिष्य के द्वारा श्रद्धा-भक्ति सहित लिया गया मंत्र इन सारे संस्कारों से स्वतः ही अलक्षित रूप से संस्कृत हो जाया करता है।

व्यक्ति का कुल देवता एक हुआ करता है। परम्परागत रूप से विभिन्न कुलों में कुल देवता की मान्यता भारत में प्रचलित है। अच्छा रहे यदि व्यक्ति अपने कुल देवता को ही इष्ट के रूप में पूजे किन्तु यदि यह संभव नहीं हो रहा हो तो दूसरे देवता को इष्ट के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि ये सारे रूप एक से ही उद्‌भूत हैं और अन्त में सब एक में ही समाहित हो जाते हैं तथा व्यक्ति की पसन्द और कार्य के अनुकूल दूसरे देवताओं की उपासना में कोई दोष नहीं होता। कुल देवताओं की मान्यता के पीछे एक बहुत बड़ा कारण रहा है कि समस्त भारत तंत्र युग में महामाया के विभिन्न स्वरूपों का क्षेत्र मान लिया गया जैसे किसी क्षेत्र में शाकम्भरी, किसी में कामाख्या, किसी में चामुण्डा, किसी में त्रिपुरसुन्दरी आदि विग्रह पूजा के विषय बन गये। तत्त्वतः इनमें कोई अन्तर नहीं था, नहीं है पर लोगों ने अपने दृष्टिकोण एवं सुविधानुसार एक की अनेक रूपों में प्रतिष्ठा कर ली।

कुल देवता से भिन्न देवता को इष्ट मानने में कोई भी रहस्य रहा हो यह लोकाचार और शास्त्र मर्यादा की दृष्टि से निषिद्ध नहीं है। यद्यपि एक मत है कि कुल देवता से भिन्न का मंत्र ग्रहण नहीं करना चाहिए फिर भी कुल देवता का सम्मान यथावत् रखते हुए यदि कोई व्यक्ति किसी

विशेप उद्देश्य को लेकर देवता विशेष की उपासना करता है तो इससे कोई हानि नहीं होती। वास्तविक स्थिति तो यह है कि आज के जमाने में लोगों को कुल देवता का पता ही नहीं रहता।

किसी व्यक्ति ने कई देवताओं का मंत्र साधन कर रखा है तो उसे उन सबको नमस्कार नित्य करना चाहिए, पूजनार्चन भी किन्तु जप उसीके करे जिसके प्रति शंका हो कि जप नहीं करने से अमुक देवता रुष्ट हो जाएगा यह व्यवस्था हरि तत्त्व दीधिति ने दी है।

अनुभव और शास्त्रीय निर्देश के अनुसार यह मान लिया गया है कि उपयुक्त व्यक्ति का दिया हुआ और विधिपूर्वक साधना किया गया मंत्र सफल होता है। मंत्र के जप के लिए जो संख्या शास्त्रों ने दी है वह अन्तिम नहीं है क्योंकि किसी को उस संख्या से कम जप करने पर ही मंत्र सिद्धि हो जाती है तो किसी को नहीं होती ऐसी स्थिति में जिसे मंत्र सिद्ध हो जाता है वह व्यक्ति नियत संख्या के जप करे ही और जिसे सफलता नहीं मिली है वह उतनी ही संख्या में जप फिर करे, दुबारा जप करने पर भी सफलता नहीं मिले तो तीसरी बार करे। तीसरी बार पर भी यदि मंत्र सिद्ध नहीं होता है तो उसे ये सात उपाय करने चाहिए।

मंत्रों के उपाय—मंत्रों के इन उपायों का निर्देष स्वयं शंकर ने किया है। व्यक्ति का लक्ष्य मंत्र साधना है अत: वह इन उपायों को क्रमिक रूप से करे जिस उपाय से मंत्र सिद्धि हो जाती है वहीं आगे के उपाय रोक देने चाहिएं. इन उपायों की सामान्य रूप से कोई आवश्यकता नहीं होती। विशेप परिस्थिति में ये उपाय अचूक हैं और इनसे मंत्र को सिद्ध होना ही पड़ता है। वे उपाय हैं—भ्रामण, रोधन, वशीकरण, पीडन, पोषण, शोषण और दाहन।

भ्रमण में मंत्र के जितने अक्षर हों उतने कोष्ठक या त्रिकोण बनाकर भोजपत्र पर शिलाजीत, कपूर, खस, कुंकम और चन्दन से मंत्र के प्रत्येक अक्षर के साथ 'वं' वायु बीज जोड़कर लिखे। लिखकर इस मंत्र को दूध, घी, शहद और जल में छोड़ दे। तदन्तर यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक इसके जप करे, जप का दशांश हवन और षोडशोपचार अथवा पंचोपचार से पूजा करे।

भ्रमण की सूक्ष्म वैज्ञानिकता ऊपर लिखे विधान से स्पष्ट हो जाती है। मंत्र भारतीय विज्ञान की दृष्टि से सचेतन है, अतः उसे गतिशील करने के लिए वायु बीज से संयुक्त किया गया है। दूध, घी और शहद तथा जल तत्त्वों के प्रतीक हैं, इसलिए मंत्र की गतिशीलता इस अनुष्ठान में सिद्ध हो जाती है।

भ्रमण से मंत्रसिद्ध हो ही जाता है। यदि न हो तो रोधन करे। रोधन में मंत्र के आदि और अन्त में 'ऐं' का सम्पुट लगाकर यथासंभव जप किया जाता है।

रोधन से मंत्र सिद्धि नहीं हो तो वशीकरण किया जाना चाहिए। भोजपत्र पर धतूरे का बीज, मैनसिल, कूट, लाल चन्दन और मेंहदी के रस से मंत्र को लिखे। लिखकर इस मंत्र को गले में बांध ले यह वशीकरण है।

यदि कोई मंत्र वशीकरण से भी सिद्ध नहीं हो तो मंत्र का पीडन करना चाहिए। पीडन में मंत्र का मानसिक जप करके आक के दूध से उस मंत्र को लिखकर पैर से पीटे और मंत्र के उच्चारण के साथ-साथ हवन करे।

पोषण में मंत्र को गाय के दूध से भोजपत्र पर लिखकर हाथ में पहने।

पोषण से सिद्धि न मिलने पर शोषण किया जाता है। अभीष्ट मंत्र के आदि और अन्त में 'वं' का सम्पुट लगाकर यथाशक्ति जप करे फिर हवन करके हवन की भस्म से इसी मंत्र को भोजपत्र पर लिखे। इस भोजपत्र को किसी तावीज में रखकर गले में बांध ले।

शोषण से सफलता न मिलने पर दाहन किया जाता है। दाहन में 'रं' अग्नि बीज का आदि मध्य और अन्त में योग करके जप करना पड़ता है। जप करने पर इसी मंत्र को अलसी के तेल से भोजपत्र पर लिखकर कन्धे पर बांध ले।

इन उपायों को क्रमिक रूप से किया जाना चाहिए। मेरी दृष्टि से इन उपायों की आवश्यकता अपवाद रूप में पड़ती है। इनका उल्लेख विषय का शास्त्रीय और समग्र विवेचन करने के उद्देश्य से किया गया है और इस आधार पर कि साधक की प्रबल पुरुषार्थवादिता के आगे सफलता को समर्पण करने के लिए विवश होना पड़े। मंत्रों की परीक्षा करके,

कुलाकुलादि चक्रों से अनुकूलता जानकर, योग्य गुरु से मंत्र दीक्षा लेकर चलने वाला साधक यदि मंत्र सिद्धि प्राप्त नहीं करे तो उसके लिए ये अन्तिम और अमोघ उपाय हैं।

मंत्रसिद्धि का लक्षण—मंत्रसिद्धि का साधारण लक्षण है—कार्य सिद्धि। जो व्यक्ति जिस उद्देश्य को लेकर मंत्राराधन के लिए अनुष्ठान कर रहा है उस उद्देश्य की प्राप्ति ही मंत्रसिद्धि है। देवता का दर्शन (स्वप्न में) प्रतिभा का स्फुरण, दिव्यानन्द की अनुभूति, मन की सात्विकता, वचन की सत्यनिष्ठता, चित्तशुद्धि, स्वप्न में किसी शुभ वस्तु के दर्शन अथवा सन्देश, दूसरे के विचारों का ज्ञान, सर्वलोक वशीकरण आदि भी मंत्र सिद्धि के लक्षण हैं।

धन-धान्य का लाभ, पाण्डित्य की प्राप्ति, सांसारिक सुखों की सिद्धि, ख्याति, शुभ स्वप्न, लोक वशीकरण, वाणी का ओज, संकल्प में चमत्कार आदि लक्षण सामान्य सिद्धि के प्रतीक होते हैं।

उच्चतम सिद्धि जिस व्यक्ति को होती है वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। सांसारिक सुखों के प्रति उसकी आसक्ति नहीं रहती। उसके दर्शन मात्र से रोग-शोक नष्ट हो जाते हैं। वह वचन, मन, कर्म से सत्य स्वरूप हो जाता है, अतः उसका कहा सत्य होकर रहता है।

मंत्र का अपना विज्ञान है। यद्यपि शास्त्रकारों ने मंत्रों का स्वरूप निश्चित कर दिया है जिससे साधक को निश्चित कार्य के लिए तैयार मंत्र मिल जाए। मंत्रों का सूत्र होता है। आयुर्वेद में जिस तरह प्रत्येक औषधि का अपना गुण धर्म होता है उसी तरह प्रत्येक अक्षर अथवा शब्द का अपना प्रभाव और साध्य होता है इसलिए समझदार व्यक्ति अपने मंत्र की परीक्षा उसी प्रकार कर लेता है। जिस प्रकार निष्णात वैद्य अपने नुस्खे की परीक्षा करके उसे कार्यानुरूप संशोधन-परिवर्धन करके तैयार कर लेता है। इसी दृष्टि से मंत्रज्ञ अपने मंत्र को निर्दोष कर लेता है इस दृष्टि से मंत्र के आदि अथवा अन्त में जोड़े जाने वाले शब्दों का परिचय दिया जा रहा है।

मूल मंत्र में आवश्यकतानुसार बीज मंत्र और अन्त में स्वाहा, नमः, वषट्, वौषट्, फट् और हुम का प्रयोग किया जाता है। वशीकरण, आकर्षण और संतापकरण के लिए जपने योग्य मंत्रों के अन्त में 'स्वाहा' का प्रयोग

किया जाता है। हवन करने के लिए भी अभीष्ट मंत्र में स्वाहा के साथ आहुति दी जाती है।

किसी देवता को प्रसन्न करने के लिए, पूजा करने में और शान्ति पुष्टि कर्म में प्रयुक्त मंत्रों के अन्त में 'नमः' का प्रयोग किए जाने का विधान है।

सम्मोहन, उद्दीपन, रोग-शान्ति मारकेश की दशा शान्ति एवं पुष्टि करने के लिए किये जाने वाले मंत्रों का अन्त 'वौषट्' शब्द से करना चाहिए।

सम्बन्ध विच्छेद, वैर कराना, मारण आदि कर्म के लिए विहित मंत्रों के अन्त में 'हुम' का प्रयोग आवश्यक है। उच्चाटन, विद्वेषण और मानसिक विकार उत्पन्न करने के उद्देश्य से जिन मंत्रों का अनुष्ठान किया जाता है उनके अन्त में 'फट्' शब्द का योग करना पड़ता है।

विघ्नशन्ति और अशुभ ग्रहों के उत्पात का शमन करने के लिए मंत्र के अन्त में 'हुं फट्' शब्द लगाना चाहिए।

मंत्र के उद्दीपन के लिए तथा लाभ-हानि आदि कार्यों के लिए जिस मंत्र की साधना की जाए उसमें 'वौषट्' शब्द को मंत्र के अन्त में जोड़ना चाहिए।

यदि किसी मंत्र में नमः, स्वाहा, हुम् आदि शब्द पहले से जुड़े हैं और ऊपर लिखे अनुसार वे शब्द उन्हीं कामों के लिए उद्दिष्ट मंत्र में हैं तो दुबारा न जोड़ा जाए।

जप करने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह दिन में एक बार उस मंत्र देवता की पूजा अवश्य करे। पूजा के लिए यह नियम नहीं है कि वह जप के पहले ही की जाए अथवा बाद में ही। यह साधक की सुविधा और अभ्यास पर है। शास्त्र जप के पहले और जप के बाद भी पूजा करने को उचित मानते हैं।

शुद्धि—जप के लिए पांच प्रकार की शुद्धियां आवश्यक हैं। आत्म-शुद्धि—स्नान, उपयुक्त, आहार, सदाचार, सत्य, परोपकार आदि से होती है। स्नान शुद्धि का अर्थ है कि जिस स्थान पर बैठकर जप किया जा रहा है वह दूषित नहीं हो, पानी से धोकर गाय के गोबर से लीपकर अथवा अन्य उचित उपायों से शुद्ध स्वच्छ किया गया हो, आसपास अपवित्र वस्तुएं

नहीं हों, मंत्र जप में बाधा डालने वाले उपकरण नहीं हों। तीसरी मंत्र शुद्धि है। मंत्र शुद्धि का विवरण मंत्रों के संस्कार में लिख दिया गया है। चौथी द्रव्य शुद्धि का अर्थ है कि पूजा में प्रयोग की जाने वाली सामग्री पवित्र हो और उसके लिए उचित मार्ग से पैदा किए हुए पैसे का ही उपयोग किया जाना चाहिए। पांचवी शुदि देव शुद्धि होती है। देव शुद्धि का अर्थ होता है कि पूजा के लिए जिस देवमूर्ति को माना जाता है उसकी विधिवत् प्रतिष्ठा की जानी चाहिए तथा नित्य स्नान चन्दनादि द्वारा उसकी अर्चना करनी चाहिए, पूजा करते समय अथवा जप करते समय हाथ में सोने या चांदी की अंगूठी होना हितकर होता है। अंगूठी धारण करने की सामर्थ्य किसी में नहीं हो तो कुशा (दाभ) का टुकड़ा ही हाथ में धारण किए रहे।

मंत्र के जप की अथवा मालाओं की संख्या को गिनने के लिए अंगुलियों के जोड़, चावल, अनाज, फूल, चन्दन और मिट्टी के टुकड़ों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

जप के समय निषिद्ध कार्य—जप करते समय आलस्य, भय, जम्हुआई, निद्रा, छींक, थूकना, गुप्तांगों का स्पर्श, क्रोध, पैर फैलाना, उकड़ू बैठना, दूसरों से बात करना और झूठ बोलना आदि अवगुणों का विशेष रूप से त्याग कर दे।

आसन—जप अथवा पूजन के लिए आसन आवश्यक है। बिना आसन के अथवा दूसरे के आसन पर बैठकर जप करना मना है। आसन के सम्बन्ध में शास्त्र का वचन है कि बांस के आसन पर बैठने से दरिद्रता, पत्थर के आसन पर बैठकर जप करने से व्याधि, छेद वाले काठ के तख्ते आदि पर बैठने से दुर्भाग्य, तिनकों पर बैठने से धन और यश का नाश पत्तों पर बैठने से चित्त भ्रम और भूमि पर बिना आसन बैठने से दुःख प्राप्त होता है।

कम्बल का आसन सब कामों में उत्तम माना गया है। काम्य कर्मों में लाल रंग का कम्बल श्रेष्ठ माना गया है। कुशा के आसन पर बैठने से जप सफल होता है। मृग चर्म जैसे रोम युक्त आसनों का विशेष अनुष्ठान में ही प्रयोग किया जाता है। वैसे मृग चर्म पर बैठने से मस्सों की बीमारी नहीं होती अन्यथा अधिक बैठक करने वालों के यह बीमारी प्रायः हो

जाया करती है ।

जप करते समय किस दिशा में मुख करके बैठना चाहिए इस सम्बन्ध में शास्त्रीय मर्यादा है वशीकरण-सम्मोहन-आकर्षण कर्म में पूर्व की तरफ, धन प्राप्ति के लिए किए जाने वाले जप में पश्चिम की तरफ, आयु रक्षा के लिए अथवा शान्ति पुष्टि के लिए किए जाने वाले जप में उत्तर की तरफ मुख करके बैठना चाहिए। मारण, विद्वेषणादि कर्मों के लिए दक्षिण दिशा में मुंह करके बैठना लाभदायक रहता है।

माला—जप के लिए माला का होना आवश्यक है। संख्या के बिना जप करने का कोई अर्थ नहीं निकलता, इसलिए एक सौ आठ, चौवन अथवा सत्ताईस मनकों की माला होनी चाहिए। हर मनके के बाद धागे में गांठ दी गई हो। माला यदि किसी समय सुलभ नहीं हो तो कर माला से ही जप करना चाहिए। करमाला का नियम यह है कि तीसरी अंगुली के दूसरे पोर (अंगुली की गांठ नहीं) से एक तीसरे पोर पर दो, चौथी अंगुली के अन्तिम (नीचे वाले) पोर पर तीन, बीच वाले पर चार. ऊपर-ही-ऊपर वाले पर पांच, तीसरी अंगुली के (जिस अंगुली से माला का प्रारम्भ किया था) ऊपर वाले पोर पर छः, दूसरी अंगुली के ऊपर वाले पोर पर सात, बीच वाले पर आठ, इसी अंगुली के नीचे वाले पोर पर नौ, तथा पहली अंगुली के नीचे वाले पोर पर दस माना गया है। दाहिने हाथ के अंगूठे से क्रमशः एक-एक स्थान पर अंगूठा रखकर जप करता जाए इन जपों की गिनती बांएं हाथ की अंगुलियों पर इसी क्रम से करते जाने से एक सौ आठ संख्या पर एक माला हो जाती है।

वैष्णवों के लिए तुलसी की माला श्रेष्ठ मानी गई है वैसे तान्त्रिक प्रयोगों में कमलगट्ठे की और रुद्रक्ष की माला सर्व कार्य साधक मानी गई है। तान्त्रिक प्रयोगों में तथा पुष्टि कर्म में मूंगा, हीरा और मणियों की माला श्रेष्ठ है। शंख की माला परहित या स्वयं के कल्याण के लिए किए जाने वाले मंत्रों में सदयः फलदायी रहती है। स्फटिक की माला आत्म ज्ञान के लिए और सरस्वती की उपासना के लिए अनुकूल पड़ती है। आकर्षण एवं वशीकरण के हाथी दांत की माला उपयुक्त रहती है।

जप करते समय माला को गौमुखी में रखकर या किसी कपड़े से

ढककर रखना चाहिए। एक बार माला को पूरा करके उसे पलट लेना चाहिए तथा सुमेरू को (माला समाप्त होने पर) आंख एवं सिर से लगाकर दूसरी माला प्रारम्भ करनी चाहिए। मंत्र जप करते समय माला को इतनी दूर रखना चाहिए कि वह श्वास की वायु को छू सके, प्रातःकाल किए जाने वाले जप में माला नाभि के पास, मध्याह्न में हृदय के समीप और संध्या समय में नासिका के पास रखना ठीक रहता है।

संकल्प—किसी भी प्रकार का जप करने के पहले हाथ में जल लेकर संकल्प लेना चाहिए। संकल्प में देशकाल मंत्र, बीज, छन्द, देवता, ऋषि का नामोल्लेख करके मंत्र-अनुष्ठान का उद्देश्य बताते हुए संख्या का निर्देश करता हुआ हाथ में लिए जल को धरती पर छोड़ दे। संकल्प की भाषा इस प्रकार है—

ओम् तत्सत् अद्य……संवत्सरे मासानां मासोत्तमे…मासे शुभे ……पक्षे……तिथौ……वासरे……छन्द……देवता……बीजम् ……ऋषि……मंत्रस्य……कार्यार्थम……संख्या कं जपमहं करिष्ये।
इन खाली स्थानों में क्रमशः विक्रम या शक संवत् की संख्या, महीने का नाम, पखवाड़े का नाम, तिथि का नाम, वार का नाम (इस काल परिचय के पश्चात् देश का नाम अर्थात् वह देश गंगा-यमुना के किस ओर है या किस सागर, तीर्थस्थान या पर्वत के किस ओर हैं इसका विवरण बोले) मंत्र का छन्द हो उसका नाम, देवता का नाम, बीज का नाम, ऋषि का नाम, मंत्र का नाम, काम का नाम और उस दिन किये जाने वाले जप की संख्या इन सबका विवरण बोलने से परिचय मिल जाता है और इस संकल्प से अनुष्ठान में निश्चय का समावेश हो जाता है। विशिष्ट मंत्रों में इन सब तथ्यों का विवरण दिया रहता है। यदि किसीको इन सारे विवरणों का ज्ञान नहीं हो तो उसे अपने मंत्रदाता से या अधिकारी विद्वान् से ये सारे तथ्य जान लेने चाहिए। यदि कोई तथ्य ज्ञात नहीं हो तो उसे छोड़ देना चाहिए।

इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि मंत्र की सफलता गुरु अथवा ऋषि, बीज, छन्द, देवता, मंत्र के परिचय बिना नहीं मिलती।

जितना संख्या में जप किया जाए उसका दशांश हवन, हवन का दशांश

तर्पण करना चाहिए तथा अन्त में श्रद्धा सहित ब्राह्मण भोजन कराकर सम्पूर्ण करे।

पुरश्चरण

कोई भी मंत्र सिद्ध करने से पहले साधना करनी पड़ती है। यह व्यवस्थित साधना पुरश्चरण कहलाती है। पुरश्चरण का अर्थ होता है आगे या पहले करना। पुरश्चरण तीन प्रकार का होता है कालिक, सांख्यिक और उभयात्मक। कालिक का अर्थ होता है निश्चित समय मे किया जाने वाला। इसमें संख्या पर जोर नहीं दिया जाता जैसे ग्रहण काल में जो पुरश्चरण किया जाता है वह ग्रहण प्रारम्भ होने से मोक्ष (शुद्धि) होने में तक होता है, चौबीस घण्टे का पुरश्चरण सूर्योदय से लेकर अगले सूर्योदय तक होता है। सांख्यिक में सारा लक्ष्य संख्या पर होता है। जिस मंत्र का जितनी संख्या में जप करना है उतनी संख्या एक साथ न की जा सके तो उसे विषय संख्या के दिनों में विभाजित कर लिया जाता है और अभीष्ट संख्या की सुविधाजनक मात्रा नित्य जपी जाती है। जैसे किसी मंत्र का पुरश्चरण सवा लाख जप करने पर होता है तो ग्यारह माला प्रतिदिन जपने से एक सौ तेईस दिन में पूरा हो जाता है। उभयात्मक में समय और संख्या दोनों माने जाते हैं जितना देखने में आया है उसके अनुसार इक्यावन से लेकर चौबीस लाख तक की जप संख्या से पुरश्चरण होता है। साधारणतया—बड़े मंत्र का पुरश्चरण कम संख्या के जप में और छोटे मंत्र का जप अधिक संख्या के जप से सम्पन्न होता है। शाबर मंत्र का पुरश्चरण शास्त्रीय मंत्रों की अपेक्षा बहुत कम संख्या से ही सम्पन्न हो जाता है।

उपासना के लिए अथवा पुरश्चरण में कम-से-कम चार और अधिक-से-अधिक आठ अंग होते हैं। चार अंगों में ध्यान, पूजा, जप, हवन आते हैं। पांच अंग में तर्पण और जुड़ जाता है, छठा अंग ब्राह्मण भोजन, सातवां अंग मार्जन और आठवां अंग प्रणमन होता है। वैसे हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि सारे ही अंग पूरे हों, छः अंगों के पालन करने से अनुष्ठान विधि सम्पूर्ण हो जाती है।

ध्यान—जिस मंत्र की आराधना करनी है उसके प्रतीक का जो

स्वरूप दिया गया है उसका वर्णित स्वरूप हृदय स्थल में अथवा भ्रू-मध्य में कल्पित किया जाकर स्मरण किया जाता है।

पूजा से पहले न्यास किये जाते हैं। न्यास तीन प्रकार के होते हैं— सृष्टि क्रम, स्थिति क्रम और संहार क्रम। सृष्टि क्रम में मंत्र के पदों अथवा अन्य निर्दिष्ट पदों को बोल कर हृदय से प्रारम्भ करके मस्तक की तरफ बढ़ा जाता है, स्थिति क्रम में नाभि से प्रारम्भ करके उसके आस-पास के अंगों का स्पर्श किया जाता है और संहार क्रम के न्यास में मस्तक से प्रारम्भ करके पैरों की तरफ किया जाता है।

यों सामान्यतया गृहस्थों के लिए सृष्टि क्रम के न्यास करने का निर्देश है किन्तु विनियोग में वर्णित तथ्यों का न्यास संहार क्रम से ही होता है और यह पहले किया जाता है। विनियोग में न्यूनतम तीन बातें होती हैं, ऋषि, छन्द, देवता और इन तीनों का निवास—ऋषि ज्ञान स्वरूप होता है इसलिए मस्तक, छन्द प्रकट अभिव्यक्ति है इसलिए मुख और देवता पावन श्रद्धा है इसलिए हृदय। विनियोग में सर्वांग। जिन मंत्रों में बीज, शक्ति और कीलक का उल्लेख रहता है उनमें गुह्य, पैर और नाभि और हो जाते हैं।

न्यास—हमारे देह में विद्यमान कमलों का स्पर्श किया जाता है और इस स्पर्श से हमारे हाथ से निकलने वाली विद्युत उन केन्द्रकों को उद्दीप्त कर देती है। शास्त्र कहता है कि न्यास करने से व्यक्ति मंत्र मय हो जाता है। न्यास का प्रभाव हम सामान्य स्थिति में अनुभव नहीं कर पाते, जब हम शुद्ध निर्मल हो जाते हैं और अपने आपको देवत्व से ओत-प्रोत समझते हैं तब न्यास में वर्णित शब्दों को बोल कर जब उन स्थानों का स्पर्श करते हैं तो हमारे शरीर में स्फुरण होता है, हम भीतर से दोलित हो उठते हैं।

न्यास विधि—सारे शरीर का अर्थात् अंगों और उपांगों का न्यास तो साधारणतया पांचों अंगुलियों व अंगूठे को मिला कर स्पर्श करने से होता है किन्तु यहां वैष्णवेतर मंत्रों का न्यास करने की साम्प्रदायिक विधि यह है—**हृदय का स्पर्श कनिष्ठा और अंगुष्ठ का अग्रभाग मिला कर करते हैं, सिर में मध्यमा अंगुलि को आगे निकाल कर स्पर्श किया जाता है,** (सिर व

स्थान माना जाता है जो ब्रह्मरंध्र है, बच्चे के सिर में जो स्थान बाद में भरा जाता है वही ब्रह्मरंध्र है) शिखा का स्पर्श मुष्टिका बांध कर, मुख का कनिष्ठा अंगुष्ठा का अग्रभाग—कवच में चारों अंगुलियों से स्पर्श किया जाता है तथा नेत्रत्रय में कनिष्ठा को अलग रखकर तर्जनी—मध्यमा को बांयी व दांयी आंख के सामने और मध्यमा को भ्रू-मध्य में स्थित तीसरे नेत्र के सामने किया जाता है, गुह्य में पांचों अंगुलियों को सीधा करके गुप्तांग के सामने कर दिया जाता है, स्पर्श नहीं करते।

पूजा—मुख्यतः तीन प्रकार की होती है। उत्तम पूजा मानसी पूजा होती है। इसमें हमारे देहस्थ पांच कमलों को पांच तत्त्वों के मूल स्थान के रूप में विकसित करके देवता की अर्चा की जाती है। यह स्तर अत्यन्त साधकों को ही प्राप्त होता है इसलिए हम अधिकारी नहीं हैं। दूसरी पूजा है मुद्रामयी, मुद्रामयी पूजा में साधारण रूप से हम हाथ से हो पंचोपचारों की मुद्रा बना कर देवता का अर्चन करते हैं। क्रमशः इस प्रकार—कनिष्ठा और अंगुष्ठ मिला कर देवता को दिखाते हुए गंध समर्पयामि, अनामा और अंगुष्ठाग्रभाग (अथवा पांचों अंगुलि व अंगूठे को फल की तरह ऊर्ध्व-मुख बनाकर) पुष्पाणि, समर्पयामि, मध्यमा और अंगूठे की अगली पोर मिला कर धूपं आघ्रापयानि, तर्जनी और अंगूठे का अगला पोर मिला कर, देवता की तरफ संकेत करते हुए दीपं दर्शयामि फिर कनिष्ठा और अंगुष्ठ वाली मुद्रा से नैवेद्यं निवेदयामि। यही पूजा बीज मंत्रों से भी होती है। गंध के लिए लं, पुष्प के लिए वं, दीप के लिए रं, धूप के लिए यं, नैवेद्य के लिए हं अथवा लं वं रं यं है पंच तत्त्वात्मकं पंचोपचारं समर्पयामि।

प्राथमिक स्तर वाले व्यक्तियों के लिए उपचारवती पूजा का विधान है। उपचार में कम-से-कम पांच (अथवा जितने सुलभ हों) और अधिक-से-अधिक छत्तीस उपचार माने जाते हैं। **पंचोपचार** में देवता को नित्य शुद्ध मान कर गंध पुष्पादि के द्वारा पूजा जाता है।

मूलतः उपचारवती पूजा में हम संसार के स्थूल विस्तार से ऊपर उठने की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए तत्त्वों के प्रतीक पदार्थ देवता के अर्पित करते हैं। यह प्रक्रिया यथार्थ भी है क्योंकि उपासना अन्तःकरण से की जाती है और अन्तःकरण में तत्त्व अपने मूलरूप—तन्मात्रा—में रहा करते

हैं। चूंकि अन्तःकरण इसी स्थूल देह में अवस्थित है इसलिए हम स्थूल से मुक्त होने के लिए यह उपक्रम रचते हैं।

पंचोपचार—गंध, पुष्प, धूप, दीप नैवेद्य आते हैं।

षोडशोपचार—आसन, स्वागत, अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय मधुपर्क, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, नमस्कार।

अष्टादशपोचार—आसन, आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, (दुकूल स्त्री देवताओं का) आभूषण, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, माल्य, अनुलेप (इत्रादि), आरार्तिक्य (आरती)।

पाद्य—श्यामक, दूब, कमल और विष्णुक्रान्ता मिलाई जाती है। पाद्य पानी से पैर धुलाने को कहते हैं।

अर्घ्य—गंध, पुष्प, चावल, जौ, दाभ (कुशा) तिल, दूब और सरसों पानी में मिलाए जाते हैं।

गंध—चन्दन, कपूर और अगर घिस कर लगते हैं।

धूप—अगर, खस, गूगल, शक्कर, शहद, चन्दन और घी को मिला र धूप बनाई जाती है।

मधुपर्क—घी, दूध, दही, को मिला कर बनाया जाता है।

पंचामृत—दूध, दही, घी, शक्कर, शहर आते हैं।

उद्वर्तन (उबटन)—हल्दी, सहदेई, शिरीष के फूल और लक्ष्मणा आते हैं।

फूलों—के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि रात की पूजा में संध्या को और दिन की पूजा में प्रातःकाल चुने हुए फूल आने चाहिएं। फूल स्नान करके न लाए। गंधहीन, कुम्हलाए हुए, बाल या कीड़ों से दूषित फूल पूजा में काम में न लेने चाहिएं।

कुछ निषिद्ध पदार्थ—विष्णु के अक्षत, गणपति के तुलसी, देवी के दुर्वा, सूर्य के बिल्वपत्र, विष्णु के आक व धतूरा, देवी के धतूरा और मन्दार, सूर्य के तगर और शिव के चम्पा अर्पित नहीं करनी चाहिए।

देवताओं के लिए कहा गया है—शिव अभिषेक से प्रसन्न होते हैं, देवी पूजन से, गणपति तर्पण से, विष्णु स्तुति से और कार्तवीर्य दीपक से

प्रसन्न होते हैं।

मानसी पूजा या उपचारवती पूजा गृहस्थ के लिए उपयुक्त रहती है किन्तु जिन लोगों को यात्रा में रहना पड़ता है अथवा जो पूजा के समय अन्यत्र होतेहैं और वहां उपचार सुलभ नहीं रहते वे लोग बीज मंत्रों से एवं हस्तमुद्रा से अपने उपास्य का ध्यान करके पूजन कर सकते हैं।

कोई भी मंत्र चाहे हम उसे नित्यकर्म के रूप में कर रहे होते हैं अथवा पुरश्चरण कर रहे होते हैं एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि असाध्य और अनिवार्य परिस्थितियों में ही वह स्थगित हो। शास्त्रों ने सकाम अनुष्ठान के लिए भिन्न-भिन्न समय बतलाये हैं किन्तु युग की जटिलता को देखते हुए यदि हम समय में हेर-फेर भी कर लें तो कोई आपत्ति नहीं है। जो लोग प्रात: काल साधना का समय नहीं निकाल सकते वे रात्रि में कर सकते हैं। माना, किसी परिस्थिति के कारण हम एक दिन उपासना नहीं कर पाए तो अगले दिन दुगुनी और एक मात्रा जो किया करते थे वह इस तरह तीन गुनी मात्रा में करनी चाहिए और यदि दो दिन नहीं कर पाए तो सात गुना करनी पड़ती है। इससे अधिक विच्छेद होने पर वह क्रम फिर से प्रारम्भ किया जाता है।

विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि मंत्र जाप करते समय योनिमुद्रा लगा लेने पर मंत्र शीघ्र जाग्रत हो जाता है। योनिमुद्रा में बांया पैर की एड़ी योनि स्थान-गुदा और लिंग के बीच और दाहिने पैर की एड़ी उसके ऊपर। प्रारम्भ में यह मुद्रा लगाने पर थोड़ा कष्ट हो सकता है किन्तु अभ्यास करने पर यह मुद्रा अधिक समय तक लगाई जा सकती है।

भोजन—साधक यदि काम्य प्रयोग करता है तो भोजन व्यवस्था इस प्रकार रहेगी—शान्ति पुष्टि कर प्रयोग में हल्का सुपाच्य भोजन, स्तंभन में मांस भक्षी मांस और शाकाहारी खीर, उड़द और मूंग विद्वेषण में, गेहूं उच्चाटन में और मारण प्रयोग में मसूर, बकरी के दूध की खीर काम में ली जाए। यदि शुद्ध रूप से ये पदार्थ न खाए जा सकें तो भोजन में इनकी प्रधानता रखी जाए।

तर्पण में जल शान्तिकर और वशीकरण के कर्मों में हल्दी मिला

जल, स्तंभन और मारण में हल्का गर्म पानी काली मिर्च मिला हुआ, उच्चाटन में भेड़ के रक्त मिला पानी काम में लिया जाता है।

पूजा करने की सामान्य पद्धति

आज के जीवन की जटिलता और विसंगतिपूर्ण व्यस्तता को देखते हुए भगवान की पूजा या स्मरण करना ही पूर्वजन्म के पुण्यों का एवं संस्कारों का सूचक माना जाता है जो प्रत्येक जन के लिए सम्भव नहीं। छल, कपट, अहंकार, ईर्ष्या जैसे दाहक, रोधक और विषाक्त भाव हमारे मन का प्रिय भोजन बन गए हैं और ये सब आसुरी सम्प्रदाय का आह्वान करने वाले हैं, समग्र समाज अत्यन्त विषाक्त वातावरण में जीने का अभ्यस्त हो गया है, विषभोजी बन गया है, इसे भगवान की कृपा की चान्दनी सुहाती नहीं। आज के व्यक्ति का जीवन बुभुक्षा और काम के समर्पित है और इनकी पूर्ति के लिए यह अंध प्रयत्न व अनर्गल संग्रह करता जा रहा है परिणाम यह सामने है कि उसमें धारणा, धैर्य, विश्वास, त्याग जैसी वृत्तियां क्षीण होती जा रही हैं। चतुर्दिक विकारों का ताण्डव हो रहा है सारा समाज अनाश्वस्त है, सारा विश्व भयभीत है, मनुष्य बहुत दुर्बल हो गया है इसलिए कायर बनता जा रहा है। बहिर्मुखी बल के विस्तार से मनोबल कम होता जा रहा है। मन को बल देने वाले भाव होते हैं, श्रद्धा, विश्वास, त्याग, सहनशीलता, संयम आदि और इनका ही ह्रास होता जा रहा है तो भय का संचार होगा ही। मेरा विश्वास है आज प्रत्येक महानगर में प्रति दस हजार जनों पर एक सत्पुरुष का आश्रम होना चाहिए जो व्यक्ति को 'मा भैः' कह सके, जो अपने वातावरण में आस्था की सुगंध बिखेरता रहे, जो स्नेह का अगुरु होमता हो। भौतिकवाद और आत्मवाद में विरोध है, आत्मवादी भौतिकता को अस्वीकार करता है और भौतिकवादी आत्मवाद का विरोध करता है, यह विरोध सनातन है, चलता रहेगा पर जीवन में सुख-शान्ति का साक्षात्कार करने के लिए भगवान को माध्यम बना लेने में आपत्ति क्या है? हम स्वस्थ रहने के लिए प्रातःकाल घूमने जाते हैं, व्यायाम करते हैं, पथ्य-परहेज रखते हैं तो क्या मानसिक स्वस्थता के लिए इस अनावश्यक व्यस्त जीवन में से घण्टा-आधा-घण्टा परमेश्वर के लिए

नहीं दे सकते ?

क्षय, कैंसर, हृदय रोग फैल रहे हैं क्योंकि व्यक्ति दुराचारी हो गया है, वह ऐसे काम करता है जो आसुरी हैं अमानवीय हैं और ऐसी जीवन पद्धति में स्वाभाविक है हृदय की धड़कन बढ़े क्योंकि हृदय में भगवान का निवास है और उसमें जब आसुरी भाव प्रवेश करते हैं तो एक भावना विष संक्रमण करता है और हृदय अपनी क्रिया को तीव्र करके उस विष को निकालना चाहता है। शनैः-शनैः असुर प्रतिष्ठित होते जाते हैं और हम हारते जाते हैं परिणाम यह होता है कि या तो हम पूरी तरह असुर होकर दुर्दान्त बन जाते हैं अथवा यह अलक्षित संघर्ष हमारे देह तंत्र में विविध विकार उत्पन्न करके हमें मृत्यु का भोजन बना देता है। मृत्यु इस देह की होती है, देह में प्रकाशित चेतन अजर-अमर है, इसे विकृतियों का क्रीडनक बनने देना कहां तक उचित है ?

अनेक बार व्यापारियों की शिकायत सुनता हूं वे कहते हैं—"क्या करें—बिना झूठ के व्यापार चलता ही नहीं" उनकी शिकायत यथार्थ है। वास्तव में आज व्यापार का चरित्र छल-असत्य और स्वार्थ से पूर्ण हो गया है, ऐसी स्थिति में कोई एक व्यक्ति पूर्ण निष्ठा से सत्य का सम्पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता। इस प्रकार के वातावरण में हम यही कह सकते हैं कि धंधे पर बैठते समय हाथ जोड़ कर भगवान से यह प्रार्थना करें कि हे भगवन ! यह हमारा व्यवसाय है, व्यवसाय के कारण जो असत्य भाषण हमें करना पड़ेगा, वह हमारी विवशता है, आप सर्वेश्वर हैं हमारी इस विवशता को क्षमा करना और सत्य को आत्मसात् करने की क्षमता प्रदान करना।

जो लोग कम तोलने-नापने, चीजों में मिलावट करने जैसी वृत्तियों के दास हो गए हैं वे असुर राज्य में रहने लगे हैं, कंस की आज्ञाकारिता उन्होंने स्वीकार कर ली है और इतने भाग्यहीन हो चुके हैं कि भगवान के आनन्दमय रूप का अवतार होने की क्षमता से भी वंचित हो चुके इसलिए ये पंक्तियां या यह विषय उनके लिए त्याज्य हो चुका अन्यथा सामयिक विवशता के कारण किए जाने वाले दुष्कर्म कलमष के समानान्तर सत्कर्म की पवित्रता भी संचित होती चली जाएगी।

स्नान करते समय—यह भावना करे कि गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा जैसी पवित्र नदियां इस पानी में आवाहित हैं और इससे स्नान करने पर मैं पवित्र हो जाऊंगा।

सुविधानुसार घर में बनाए गए पूजा गृह या पूजास्थल पर आसन (सम्भव हों तो तीन आसन—नीचे कुशा, ऊपर कंबल और उससे भी ऊपर रेशम का—अन्यथा एक ही आसन) पर बैठ कर पृथ्वी की प्रार्थना करे—

पृथिवी त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

इससे पृथ्वी को प्रणाम करके आसनों को स्पर्श करके

अनन्तासनाय नमः
विमलासनाय नमः
कमलासनाय नमः

बोल कर तीनों या एक आसन को पवित्र करे। सम्भव हो तो तीनों आसनों के नीचे यह बोल कर कुशा रख दे।

दिग्बंध के लिए—'सुदर्शनास्त्राय फट्' बोल कर तीन बार ताली बजा कर दिग्बंध करे।

आत्मशुद्धि के लिए अपने इष्ट मंत्र का जप करता हुआ तीन बार प्राणायाम करे। प्राणायाम में दाहिने हाथ से नाक के दांयें छिद्र को बन्द करके बांयें छिद्र से श्वास भीतर की ओर खींचा जाता है—यह पूरक प्राणायाम है फिर नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द करके श्वास रोका जाता है इसे कुंभक कहते हैं फिर जिस छिद्र से श्वास भीतर खेंचा था उसे बन्द करके दूसरे से निकाला जाता है इसे रेचक कहते हैं। अगली बार प्राणायाम करने पर जिससे श्वास बाहर निकला था उसी से खेंच कर पूरक करना है। आगे जितनी बार भी प्राणायाम करना पड़े—यही प्रक्रिया पूरी करनी है। इन तीनों ही क्रियाओं में इष्ट मंत्र का जप करना है।

भूत शुद्धि के लिये

"सूर्यः सोमो यमः कालः संध्या भूतानि पंच च।
एते शुभाशुभस्येह कर्मणो मम साक्षिणः॥

भो देवि प्राकृतं चित्तं पापाक्रान्तमभून्मम।
तन्निःसारय चिन्तान्मे पापं तेस्तु नमो नमः॥"

ये मंत्र इस भावना के साथ बोले कि भगवती की कृपा के हमारे मनोगत पाप निकल रहे हैं।

देवता के निमित्त प्रज्वालित दीपक की तरफ दोनों हाथ करके—

"घोराय घोरतमाय महारौद्राय वीरभद्राय ज्वालामालिने सर्वदुष्टसंहर्त्रे हुम् फट् स्वाहा"

बोले और उन हाथों को सारे शरीर से स्पर्श कर ले पापपुरुष का दाहन करने के लिए ध्यान करे—

"वामकुक्षिस्थितं कृष्णं अंगुष्ठ परिमाणकम्।
ब्रह्म हत्या शिरोयुक्तं कनकस्तेय बाहुकम्॥
मदिरापानहृदयकं गुरुतल्पकटियुतम्।
तत्संसर्गिपदद्वंद्व उपपातक मस्तकम्॥
खड्गचर्मधरं दुष्टमधोवक्त्रं सुदुःसहम्।"

अर्थ है—हमारे वांयें पार्श्व में अंगूठे जितना आकार का पाप पुरुष है। ब्रह्म हत्या उसका शिर, गुरु पत्नी गमन उसकी कमर, सोने की चोरी उसकी भुजा, मदिरा पान उसका हृदय, इनसे संबंध की रखने वाले अन्य दुराचरण उसके दोनों पैर तथा उपपातक उसके मस्तक हैं। यह पाप पुरुष चमड़ा और खड्ग धारण किए हुए है, इसका मुंह नीचा है और अत्यन्त दुःसह है।

इस प्रकार के पाप पुरुष का निष्कासन करने के लिए 'यं' बीज मंत्र को बत्तीस बार बोलता हुआ पूरक प्राणायाम करता हुआ यह भावना करे कि इससे वह पाप-पुरुष सूख रहा है फिर 'रं' बीज को चौसठ बार बोलता हुआ कुंभक प्राणायाम करे और यह विश्वास भावना करे कि इससे वह पाप पुरुष भस्म हो रहा है फिर 'यं' बीज को बत्तीस वार बोलता हुआ रेचक प्राणायाम करे और यह मान ले कि वह भस्मीभूत पाप पुरुष अब बाहर निकल गया है।

आत्मरक्षा के लिए—सफेद सरसों या चावल फेंककर या वैसे ही इन दिशाओं की तरफ हाथ-जोड़कर बोले—

पूर्वे मां शंकरः पातु तथाग्नेय्यां च शूलधृक्।
कपाली दक्षिणे पातु नैऋत्ये जटिलोवतु ।।

पश्चिमे पार्वतीनाथो वायव्ये प्रमथाधिपः।
उत्तरे मुण्डमाली व्यादैशान्ये वृषभध्वजः ।।

ऊर्ध्वं पातु तथा शंभुः अधस्तात् धूलि धूसरः।
अग्रतो भैरवः पातु पृष्ठतः पातु खेचरः ।।

दक्षिणे भूचरः पातु वामे च पिशिताशनः।
केशान्पातु विशालाक्षो मूर्धानि च मरुत्प्रियः ।।

मस्तकं पातु भृग्वीशो नेत्रे पातु महामनाः।
कपोलौ पातु वीरेशो गण्डौ गण्डाभिमर्दनः ।।

उत्तरोष्ठे विरुपाक्षो ह्यधरे योगिनीप्रियः।
अक्षेषु दक्षविध्वंसी चिबुके च कपालधृक् ।।

कण्ठे रक्षतु मां देवो नीलकण्ठो जगद्गुरुः।
दक्षस्कंधे गिरीन्द्रेशो वामस्कंधे वसुंजयः ।।

दक्षिणे च भुजे सर्वमन्त्रनाथः सदावतु।
वामे भुजे सार्वभौमः हृदये पातु पाण्डुरः ।।

दक्षहस्ते पशुपतिः वामे पातु महेश्वरः।
उदरे सर्वकल्याणकारकोऽवतु मां सदा ।।

नाभौ कामप्रविध्वंसी जंघे पातु दयामयः।
जानुनी पातु जामित्रः गुल्फौ गौरीपतिः सदा ।।

पादपृष्ठे सामनिधिः तथा पादांगुलीर्हरः।
पादाधः पातु सततं व्योमकेशो जगत्प्रियः ।।

यह आत्मरक्षा रही अब स्थान रक्षा के लिये—

अपसर्पन्तु ते भूताः ये भूताः भूमिसंस्थिताः।
ये चात्र विघ्न कर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ।।

ये चात्र विघ्नकर्तारः दिवि भुव्यन्तरिक्षगाः।
विघ्न भूताश्च ये चान्ये मम मंत्रस्य सिद्धिषु ।।

मयैतत्कीलितं क्षेत्रं परित्यज्य विदूरतः ।
अपसर्पन्तु ते सर्वे निर्विघ्ना सिद्धिरस्तु मे ।।

ये बोलकर अपनी बाईं तरफ गुं गुरुभ्यो नमः, दाहिनी तरफ गं गणपतये नमः और सामने इष्ट देवताभ्यो नमः कहकर प्रणाम कर ले ।

पुरश्चरणादि में मण्डूक से लेकर परतत्त्व तक के पीठ देवताओं का पूजन सामान्य गंधाक्षत पुष्प से किया जाता है, षोडश मातृकाओं का दिक्पालों का दिक्पालों के वाहन और आयुधों का पूजन किया जाता है इनका विवरण मेरी लिखी अन्य पुस्तकों में देख लिया जाए। प्रत्येक पुस्तक में इनका पुनर्लेखन अशोभन रहता है। इसी प्रकार उपचारों से पूजा करने पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं को अर्पित करने के मंत्र भी अन्यत्र देख लेने चाहिएं। यहां पंचोपचार के मंत्र लिखे जा रहे हैं—

गंध—श्रीखण्ड चन्दनं दिव्यं गंध्याढयं सुमनोहरम् ।
विलेपनं सुरश्रेष्ठ चन्दनं प्रतिगृह्यताम् ।।

पुष्प—माल्यादीनि सुगंधीनि मालत्यादीनि वै प्रभो ।
मयानीतानि पुष्पाणि गृहाण परमेश्वर ।।

धूप—वनस्पति रसोद्भूतो गंधाढयो गंध उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्व देवानां धूपोयं प्रतिगृह्यतां ।।

दीप—सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिमिरापहः ।
सबाह्याभ्यंतरज्योतिः दीपोयं प्रतिगृह्यताम् ।।

नैवेद्य—सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेक भक्षणम् ।
निवेदयामि देवेश सानुगाय गृहाण तत् ।।

शास्त्रीय विमर्श

किसी भी मंत्र का अनुष्ठान करने से पहले जिन सावधानियों की आवश्यकता होती है वे दूसरे अध्याय में लिख दी गई हैं फिर भी मेरा इतना प्रबल आग्रह नहीं है कि साधक उन सबका निर्वाह करे ही लेकिन उन सारी विधियों का निर्वाह एक तो साधक को असफलता से बचाता है, दूसरे साधक की जितनी बड़ी आकांक्षा होती है उतनी ही सावधानी आवश्यक होती है। मान लीजिए कोई मारण कर्म करने जा रहा है तो उसकी बड़ी सावधानी बरतनी होगी। अन्यथा वह प्रयोग साधक को ही ले बैठेगा। ऐसी ही स्थिति देवी के प्रयोगों में है। देवी स्वयं शक्ति का रूप है, अत: उसकी उपासना जगदम्बा के रूप में ही करनी चाहिए। यदि कहीं कोई विक्षेप हो जाता है अथवा त्रुटि हो रही होती है; तो उसका समाधान मंत्रोपदेशक से अथवा किसी मर्मज्ञ विद्वान से करा लेना चाहिए। अस्वस्थतावश यदि अनुष्ठान प्रारम्भ करने के बाद उसे नहीं निभाया जाए तो किसी ब्राह्मण को बुलाकर वह अनुष्ठान जारी रखा जा सकता है। किसी के मरने अथवा जन्म लेने के कारण सूतक आदि लग जाएं तो प्रयोग को अल्पकाल के लिए रोक देना चाहिए। यदि कोई साधक प्रमादवश प्रारम्भ किए प्रयोग को छोड़ देता है तो इससे बड़ा दोष लगता है। भले ही साधक ने किसी उद्देश्य से अनुष्ठान प्रारम्भ किया हो और बीच में ही सफल हो गया हो तो अनुष्ठान को अधूरा छोड़ने से मंत्र का अपमान होता है, अत: यथाविधि सम्पूर्ण करना ही चाहिए। अनुष्ठान को बीच में छोड़ देने पर प्रायश्चित करने का विधान है। मूल मंत्र के एक या दस हजार जप करके, उपावास करना चाहिए तथा देवता से क्षमा याचना करके उसी अनुष्ठान को फिर से प्रारम्भ करना चाहिए।

किसी भी देवता की उपासना में, ऐसी उपासना में जिससे हम कोई

मनोरथ नहीं रखते, मुहूर्त की कोई बाधा नहीं होतीं। ऐसे मंत्र भक्ति योग में माने जाते हैं और भक्तियोगी में शास्त्रीय व्यवस्थाएं शिथिल मानी जाती हैं। दरअसल मुहूर्त का यह प्रभाव होता है कि उस नक्षत्र, तिथि, योग, वार और चन्द्रमा के कारण प्रारंभ किया अनुष्ठान निर्विघ्न समाप्त होता है तथा उस मंत्र में विशेष प्रभाव उत्पन्न हो जाता है, सारा तन्त्रशास्त्र मुहूर्त पर ही चलता है, अतः यह मुहूर्त की व्यवस्था को निष्काम साधना के समय ही शिथिल किया जाना चाहिए।

किसी विशेष अनुष्ठान करते समय व्यक्ति अपने नित्य कर्म को नहीं छोड़े, क्योंकि नित्य कर्म सदा चलने वाला है और विशेष प्रयोग किसी खास समय तक ही। इन प्रयोगों में स्नान, एकान्त, मौन, सदाचार और वाणी का संयम आवश्यक होता है, क्योंकि इनसे मन एकाग्र रहता है और मन की एकाग्रता से मन सिद्धि जल्दी होती है। किसी भी साधना में देवता का मंत्र बोलकर उसका ध्यान करना और पञ्चोपचार से (धूप, दीप, नैवेद्य, स्नान और नमस्कार) पूजा अवश्य करनी चाहिए। दीपक आवश्यकतानुसार तेल या घी का होना चाहिए। घी की आवश्यकता हो तो गाय का ही काम में लेना चाहिए, यदि न मिले तो भैंस का काम में लिया जा सकता है। अनुष्ठान यदि किसी पुस्तक का हो तो उस पुस्तक के मंत्रों से अन्यथा मंत्र जाप का हो तो उस मंत्र से दशांश हवन अवश्य करना चाहिए। अनुष्ठान चालू रहते समय अधिक गरिष्ठ पदार्थों का सेवन यह सोचकर नहीं करना चाहिए कि इससे दिन-भर भूख नहीं लगेगी। भोजन हल्का और सुपाच्य हो। संध्या समय दूध का सेवन वर्जित नहीं हैं। भूमि पर सोना, ऊन या रेशम के वस्त्र काम में लेना अच्छा रहता है। यदि साधक अहर्निश (रात-दिन) उसी मंत्र का मानसिक जप करता रहे तो इससे मंत्र जल्दी सिद्ध होता है और साधक को विलक्षण अनुभव होते हैं।

मारण, विद्वेषण और उच्चाटन जैसे कर्मों को अभिचार कर्म कहते हैं। इस पुस्तक में इन प्रयोगों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि प्रथम तो ऐसे प्रयोग किसी योग्य गुरु की देख-रेख में ही सीखने चाहिएं, तीसरे इस प्रकार के प्रयोगों के अनुचित स्थान पर कर देने से कर्त्ता और दाता दोनों को पाप लगता है। फिर भी इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसे प्रयोग हैं ही

नहीं या उनकी साधना संभव ही नहीं है। मारण प्रयोग में 'पक्षिराज सहस्त्र नाम' का अनुष्ठान अचूक और अति समर्थ है। इसका अनुष्ठान ही पांच दिन का होता है, पर यह अत्यत्त उग्र और परमशक्ति सम्पन्न प्रयोग होता है। इसका प्रयोग भूलकर भी नृसिंह के मन्दिर में नहीं करना चाहिए। वैसे इसका अनुष्ठान दूसरे कामों के लिए भी किया जा सकता है, पर मेरा परामर्श यही है कि साधारण आदमी ऐसे प्रयोगों को सुन-सुनाकर ही न करें। दुर्गा सप्तशती से भी छहों कर्म किये जाते हैं पर अभिचार कर्मों में दुर्गा को महाकाली के रूप में पूजा जाता है और वह महाकाल का रूप इतना हल्का नहीं होता कि हर कोई उसे सहन कर जाए।

लोग चाहे कुछ भी कहें मेरा विश्वास ऐसा है कि किसी भी देवता को प्रत्यक्ष प्रकट होने के लिए आग्रह न किया जाए और न उन पर विश्वास किया जाए। जो यह कहते हैं कि देवी हमें दर्शन देती है। सच बात यह है कि किसी भी देवता का (अनुभव) ज्ञान हमें जो होगा वह इन्द्रियों के द्वारा ही होगा और इन्द्रियों में इतनी शक्ति नहीं कि वे उसका ज्ञान कर लें। भगवान कृष्ण ने अपने वास्तविक रूप को दिखाने के पहले दिव्यचक्षु दिए थे। स्वयं परम हंस उसका दर्शन करके विक्षिप्त हो गए थे। होता यह है कि जब किसी देवता की कृपा होती है तो हमें उसके मौजूद होने का आभास होता है। कृष्ण की उपासना में धनुष धारण किया हुआ परम सुन्दर कोई व्यक्ति दिखता है तो हनुमान की उपासन में वानर दिखता है। दरअसल ये सब हमारे मल की सात्विक कल्पनायें हैं, अन्यथा अर्ध जागृत अवस्था में, स्वप्न में या भ्रम में देवता का हमारी कल्पना के अनुकूल आभाम हो जाना ही बड़े पुण्य का फल होता है और इसे किसी प्रयोग की सफलता के रूप में ही माना जाना चाहिए, अन्यथा सत्य तो यह है कि उस विराट् का कोई रूप नहीं होता, लेकिन जब सांसारिक व्यक्ति उसे याद करते हैं तो वह उनकी इच्छानुसार ढलकर अपना आभास दे जाता है।

वाल्मीकि रामायण का सुन्दर काण्ड

भगवान राम के चरित्र में दुहरा बल है। चरित्र बल भी और शब्द बल भी। चरित्र को शक्ति सम्पन्न बनाया राम के उदात्त कर्म ने और

आदि कवि वाल्मीकि ने उस कथा को शब्द शक्ति दी। भगवान राम के पावन चरित्र का श्रवण-मनन करने से व्यक्ति को सर्वार्थ सिद्धि और आत्म-ज्ञान होता है पर सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी पाठ में मूल पुस्तक के किसी या किन्हीं पद्यों का सम्पुट लगाया जाता है। सम्पुट का अर्थ होता है एक बार सम्पुट के रूप में प्रयोग किया जाने वाला पद्य, फिर पाठ का पद्य फिर वह सम्पुट का पद्य। सम्पुट पद्य या श्लोक का ही नहीं होता, किसी बीज मंत्र का भी लगाया जा सकता है।

वाल्मीकि कृत रामायण में सातों काण्ड हैं। इन सातों काण्डों का विशेष उद्देश्य के लिए प्रयोग किया जाता है। सन्तान प्राप्ति के लिए बाल-काण्ड धन प्राप्ति के लिए अयोध्या, अनुसंधान और अंवषेण में सफलता प्राप्त करने के लिए अरण्य, राज्यादि की पुन: प्राप्ति के लिए किष्किधा, सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करने के लिए सुन्दर और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उत्तरकाण्ड का प्रयोग किया जाता है। सुन्दरकाण्ड के लिए कहा जाता है—

सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा।
सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किम् न सुन्दरम्॥

सुन्दर काण्ड में पवन पुत्र हनुमान जी का चरित्र ही अधिकतया है, अतः इसे हनुमदुपासना के रूप में ही किया जाए। अर्थात् मुख्य मूर्ति श्री हनुमान जी की ही रखी जाए। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि हनुमान जी दास्य भाव के प्रतीक हैं, अतः उनकी अर्चना करने के पहले भगवान राम का स्मरण और पूजन करने से विशेष और शीघ्र फल मिलता है। कोई व्यक्ति खो गया हो अथवा किसी के सम्बन्ध बिगड़ गए हों और उनको सुधारने की आवश्यकता महसूस की जाए तथा किसी परीक्षा में सफलता की कामन हो तो सुन्दरकाण्ड तुरन्त फल देने वाला होता है। हनुमान वीर विद्यार्थी वर्ग के सच्चे सहायक हैं, अतः ऊपर लिखी परि-स्थितियों में सुन्दरकाण्ड का पाठ अत्यन्त उपयुक्त प्रयोग रहेगा।

पाठक्रम

सुन्दर काण्ड में ६८ सर्ग हैं। इसके प्रयोग की ५ विधियां हैं। २ विधियां ६८ दिन की, २ विधियां ३४ दिन की और १ विधि ११ दिन की है। इनमें सात, पांच और एक पाठ हो सकता है। पहली विधि में सात-सात सर्ग रोज के हिसाब से पाठ करे तो अड़सठवें दिन अड़सठवां सर्ग आ जाता है। पाठ सात होते हैं। दूसरी विधि में चौदह सर्ग प्रतिदिन के क्रम से चौंतीसवें दिन अड़सठवां सर्ग आ जाता है और पाठ वे ही सात होते हैं (पाठ से आशय है सुन्दरकाण्ड की आवृत्ति) दूसरी विधि में पांच आवृत्तियां होती हैं। यदि पांच सर्ग प्रतिदिन के क्रम से पाठ किया जाए अथवा दस सर्ग प्रतिदिन के क्रम से पाठ किया जाए तो क्रमशः अड़सठवें और चौतीसवें दिन अड़सठवां सर्ग आ जाता है। पांचवीं विधि में ग्यारह दिन का प्रयोग होता है। इसमें पहले दिन एक सर्ग का और चौथे दिन चार सर्ग का तीसरे दिन तीन सर्ग का और चौथे दिन चार सर्ग का इस क्रम से पाठ किया जाता है। ग्यारहवें दिन तेरह सर्गों का पाठ करने पर सुन्दर काण्ड का एक पाठ पूर्ण हो जाता है।

इन सारे क्रमों से सात सर्ग से चलने वाला और अड़सठ दिन वाला प्रयोग प्रायः विद्वान् लोग किया करते हैं। सुन्दर काण्ड का प्रयोग कलियुग में (दुर्गापाठ) सप्तशती के प्रयोग की तरह अमोघ और निश्चित फल देने वाला होता है। मैंने स्वयं इसका प्रयोग करके देखा है।

पाठ विधि

प्रयोगकर्त्ता शुभ मुहूर्त देखकर सुविधाजनक एकान्त स्थान में, हनुमान जी के मन्दिर में अथवा घर के किसी एकान्त कमरे में हनुमान जी का चित्र अथवा मूर्ति रखकर उनसे प्रार्थना करे। प्रयोगकर्त्ता का मुख पूर्व अथवा उत्तर की ओर होना चाहिए। स्थान को पवित्र करके स्वयं का नित्यकर्म करने के पश्चात् प्रयोग के लिए आसन पर बैठ जाए। पुस्तक की और हनुमान जी की प्रतिमा की अर्चना करे। अर्चना षोडश उपचार से करे। षोडशोपचार में आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, गन्ध, अक्षत,

७ सर्ग प्रतिदिन के क्रम से ६८ दिन का पाठक्रम—७ पाठ

दिन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
सर्ग	७	१४	२१	२८	३५	४२	४९	५६	६३	२	९	१६	२३	३०	३७	४४	५१
दिन	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४
सर्ग	५८	६५	४	११	१८	२५	३२	३९	४६	५३	६०	६७	६	१३	२०	२७	३४
दिन	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१
सर्ग	४१	४८	५५	६२	१	८	१५	२२	२९	३६	४३	५०	५७	६४	३	१०	१७
दिन	५२	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	६४	६५	६६	६७	६८
सर्ग	२४	३१	३८	४५	५२	५९	६६	५	१२	१९	२६	३३	४०	४७	५४	६१	६८

५ सर्ग प्रतिदिन के क्रम से ६८ दिन का पाठक्रम—५ पाठ

दिन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
सर्ग	५	१०	१५	२०	२५	३०	३५	४०	४५	५०	५५	६०	६५	२	७	१२	१७
दिन	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४
सर्ग	२२	२७	३२	३७	४२	४७	५२	५७	६२	६७	४	९	१४	१९	२४	२९	३४
दिन	३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१
सर्ग	३९	४४	४९	५४	५९	६४	१	६	११	१६	२१	२६	३१	३६	४१	४६	५१
दिन	५२	५३	५४	५५	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३	६४	६५	६६	६७	६८
सर्ग	५६	६१	६६	३	८	१३	१८	२३	२८	३३	३८	४३	४८	५३	५८	६३	६८

१० सर्ग प्रतिदिन के क्रम से ३४ दिन का पाठक्रम—५ पाठ

दिन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
सर्ग	१०	२०	३०	४०	५०	६०	२	१२	२२	३२	४२	५२	६२	४	१४	२४	३४
दिन	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४
सर्ग	४४	५४	६४	६	१६	२६	३६	४६	५६	६६	८	१८	२८	३८	४८	५८	६८

१४ सर्ग प्रतिदिन के क्रम से ३४ दिन का पाठ क्रम—७ पाठ

दिन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
सर्ग	१४	२८	४२	५६	२	१६	३०	४४	५८	४	१८	३२	४६	६०	६	२०	३४
दिन	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४
सर्ग	४८	६२	८	२२	३६	५०	६४	१०	२४	३८	५२	६६	१२	२६	४०	५४	६८

कला क्रम से ११ दिन का पाठक्रम—१

दिन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
सर्ग	१	३	६	१०	१५	२१	२८	३६	४५	५५	६८

वस्त्र, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, पुंगीफल, धूप, दीप, दक्षिणा और नस्मकार माने जाते हैं।

पाठारंभ के पूर्व हाथ में जल लेकर संकल्प ले। संकल्प में देश काल का संकीर्तन करके……गोत्रोत्पन्न……शर्मा, गुप्त, वर्मा (यथोचित) हम् मम् (किसी दूसरे के लिए किया जा रहा हो तो यजमानस्य)…… अभिलषित कामना सिद्ध्यर्थ श्री रामचन्द्र प्रीतिपूर्वक श्री हनुमान्प्रीतये वाल्मीकीय रामायणान्तर्गत सुन्दरकाण्डस्य अष्टषष्टि दिवसान्तर्गत प्रति दिनम्……सर्गाणाम् पाठं करिष्ये।

फिर अंगन्यास करे।

अस्य श्री सुन्दरकाण्ड महामंत्रस्य भगवान हनुमान् ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः जगन्माता सीता देवता श्रीं बीजम् स्वाहा शक्तिः सीतायै कीलकम् सीता प्रसाद सिद्ध्यर्थे सुन्दरकाण्ड पारायणे जपे विनियोगः।

इसी विनियोग का अंगन्यास करे। भगवद् हनुमद् ऋषये नमः शिरसि, अनुष्टुप् छन्द से नमः मुखे, जगन्तातृ सीता देव्यै नमः हृदये, श्रीं बीजाय नमः गुह्मे, स्वाहा शक्तये नमः पादयोः सीता कीलकायै नमः सर्वांगे।

कर न्यास—सीतायै अंगुष्ठाभ्यां नमः, विदेहराज सुतायै तर्जनीभ्याम् नमः, रामसुन्दर्ये मध्यमाभ्यां नमः, हनुमत् समाश्रितायै अनामिकाभ्यां नमः, भूमि सुतार्य कनिष्ठिकाभ्या नमः, शरण भजे करतल कर पृष्ठाभ्याम् नमः।

पाठ के अन्त में या आदि में मूल रामायण का १ या ५ या ७ या ११ पाठ करना आवश्यक है। जिस दिन प्रयोग की पूर्णाहुति हो उस दिन सुन्दर काण्ड के प्रत्येक श्लोक से हवन करे। ब्राह्मण भोजन कराकर १-१ केला और दक्षिणा देने से अनुष्ठान सम्पन्न होता है।

'सीं श्रीं सीतायै नमः' इस मंत्र की एक माला जपे यदि समय हो तो इस मंत्र को—

'काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने।
पर्याप्तः परवीरघ्न! यशस्यस्ते बलोदयः॥'

अथवा

'रामदूत महावीर वेगवान् मारुतात्मज !
कपीन्द्र वाञ्छितं देहि त्वामहं शरणं गतः ।।'

किसी भी श्लोक से सम्पुटित करके माला जपे। माला की संख्या विषम होनी चाहिए।

सम्पुट

यद्यपि भगवान महावीर के अमोघ चरित्र के समान ही सुन्दरकाण्ड का प्रयोग भी तुरन्त और निश्चित फल देने वाला होता है फिर भी पाठ का प्रयोग संपुट सहित करने से विशिष्ट और त्वरित फल मिलता है। नीचे विशेष कार्यों के लिए सम्पुट के पद्य लिखे जाते हैं। यथा समय और कार्य व आवश्यकता के अनुसार सम्पुट लगाकार अनुष्ठान करना ठीक रहेगा।

शत्रुनाश के लिए

'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ।।'

अथवा

'दासोऽहम् कौशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिकष्टकर्मणः।
हनुमान् शत्रुसैन्यानाम् निहन्ता मारुतात्मजः ।।'

अथवा

'न रावणंसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिर्वैः प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ।।'

अथवा

'अर्दयित्वा पुरीं लंकाम् अभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धयर्थें गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ।।'

दुःख और चिन्ता दूर करने के लिए

'हनुमान् यत्नमास्थाय दुःखक्षयकरो भव।
तस्य चिन्तयतो यत्नो दुःखक्षयकरोऽभवत्।।'

अनिष्ट निवारण के लिए

'यथा च स महाबाहुर्माम् तारयति राघवः।
अस्माद्दुःखाम्बु संरोधात् त्वम् समाधातुमर्हति ॥'

मुकद्दमे वगैरह में विजय प्राप्त करने के लिए

'बलैः समग्रैर्यदि मां रावणं जित्य संयुगे।
विजयी स्वां पुरीं यायात्तु में स्याद्यशस्करम् ॥'

विवाहादि के लिए

'स देवि नित्यं परितप्यमानः, त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।
दृढ़व्रतो राजसुतो महात्मा, तवैव लाभाय कृत प्रयत्नः ॥'

ग्रह या दुःस्वप्न शान्ति के लिए

'ओम् जूं सः मां पालय सः जूम् ओम्'

इस मंत्र का सम्पुट लगाए।

विद्यालाभ, विजय और अरिष्ट निवारण के लिए सुन्दरकाण्ड का अनुष्ठान जितना अचूक है उतना ही भूताबाधा के लिए। कलियुग में देवी, भैरव, गणेश और हनुमान की उपासना ही फलदायिनी होती है। जिस मकान में प्रेतात्मा का प्रकोप हो उसे पानी से धुलवा कर गोबर वगैरह से लीपकर दीपक की साक्षी से सुन्दरकाण्ड का प्रयोग कराने से बाधा शान्त होती है।

विशिष्ट उपासना

हनुमान जी को प्रसन्न करने के लिए नीचे बहुत कुछ विशिष्ट मंत्र और उनकी उपासना का उल्लेख किया जा रहा है। यदि साधक की पूर्ण निष्ठा हो तो सातवें या नवें दिन कपीश्वर स्वयं प्रकट होकर दर्शन देते हैं। साधक को सौभाग्यवश ऐसा अवसर मिले (उक्त रीति से करने पर कपीश्वर को प्रकट होना ही पड़ता है) तो डरना नहीं चाहिए, परम प्रसन्न होकर श्रद्धा भक्ति सहित उनकी पूजा करनी चाहिए। देव दर्शन ही सबसे

बड़ी सफलता होती है। कपीश्वर की मूर्ति विशाल हो तो साधक को प्रार्थना करनी चाहिए कि वे भक्त के साहस के अनुकूल रूप धारण करें। यह मंत्र सिद्ध होने पर इससे सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। किसी भी मंत्र के नियत संख्या तक जप करने अथवा पुरश्चरण करने पर वह मंत्र सिद्ध हो जाता है। मंत्र के सिद्ध हो जाने के सम्बन्ध में पहले के अध्यायों में बता दिया गया है कि अमुक प्रकार के स्वप्न आने पर मंत्र को सिद्ध मान लिया जाए।

किसी देव मन्दिर में (हनुमान जी के) अथवा एकान्त में नदी के किनारे कुशा के आसन पर बैठकर सीता सहित राम का ध्यान करे। तदन्तर संकल्प लेकर विनियोग करे। विनियोग इस प्रकार होगा। हाथ में (संकल्प की तरह) जल लेकर मुंह से बोले—अस्य श्री हनुमन्मंत्रस्य रामचन्द्र ऋषिः जगती छन्दः हनुमद्देवता हं बीजम् हुम् शक्तिः श्री हनुमत्प्रसन्नतार्थे सहस्र। दश सहस्र संख्या के जपे विनियोग अंगन्यास भी इसी बीज मंत्र का करना चाहिए जैसे हां नमः हृदये, हीम् नमः शिरसि, हूम् नमः शिखायाम्, हैम् नमः नेत्रयोः हौम् नमः मुखे, हः नमः अस्त्राय फट्।

ताम्बे के किसी पत्र में आठ पत्तों वाला कमल बनाकर उसके मध्य भाग में निम्न मंत्र लिखे तथा कमल के आठ पत्तों पर सुग्रीव, लक्ष्मण, नल, नील, अंगद, कुमुद, केसरी और जाम्बवान का नाम लिखकर उनकी पूजा करे। लक्ष्मी प्राप्ति की कामना वाला इस तरह या यंत्र लाल चन्दन की लड़की से लाल चन्दन से ही लिखे फिर उन सबकी पूजा करके एक लाख बार, जितने दिनों में सुविधापूर्वक जप हो सके, जप करे जिस दिन पूर्णाहुति होती है उस दिन साधक को चाहिए कि वह अत्यन्त पवित्रतापूर्वक तल्लीन होकर अंजनी नन्दन का मंत्र जपता रहे। मन, वचन से पवित्र रहकर इन्द्रियों पर संयम रखे और मंत्र को जपता चला जाए। आखिरकार रात्रि में अंजनी सुतु प्रकट होते हैं और अभीष्ट सिद्धि का वरदान प्रदान करते हैं। साधक को इसमें न धैर्य खोना चाहिए न अविश्वास रखना चाहिए। विश्वास सबसे बड़ी वस्तु हुआ करती है। हां, यह मंत्र बीजमंत्र से युक्त है अतः इसके उच्चारण में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। इस मंत्र के सिद्ध हो जाने पर किसी भी काम के समय इसका साधारण-सा जप

करने पर कार्य सिद्धि हो जाती है।

मूल मंत्र है 'हुम् हनुमते रुद्रात्मकाय हुम् फट्' मंत्र सिद्ध हो जाने पर जितनी संख्या में जप गए थे उनका दशांश हवन करना चाहिए। हवन में तिल, चीनी, अष्टगन्ध और गौ घृत उत्तम रहता है।

दूसरा मंत्र है 'हम् पवन नन्दनाय स्वाहा'। यह मंत्र हनुमान जी की पवनसुत के रूप में कल्पना करता है। पवन जिस तरह सर्वत्र व्याप्त है, अत्यन्त बलशाली है वैसी ही गुण-कल्पना इस मंत्र में है। आदि में हम् और अन्त में स्वाहा करने से मंत्र का स्वरूप दूसरा हो जाता है। इस मंत्र के एक लक्ष जप करने पर यह मंत्र सिद्ध होता है तथा कपीश्वर के दर्शन हो जाते हैं। हनुमान कलियुग के लिए परम उपयोगी और सुविधा से सिद्ध हो जाने वाले देवता हैं। इस मंत्र का साधन ग्यारह दिन तक किया जाता है। दस हजार जप प्रतिदिन करने से दस दिन तक एक लाख की संख्या पर जप पहुंच जाता है। ग्यारहवें दिन दशांश हवन, ब्राह्मण भोजनादि करने पर प्रयोग सम्पूर्ण होता है।

अनुष्ठान करने की जो व्यवस्था अब से पहले बताई गई है वह सभी अनुष्ठानों में समान रहती है। हनुमान जी की उपासना मध्याह्न अथवा रात्रि में अधिक अच्छी रहती है। उपरोक्त मंत्र की साधना करने वाले के लिए विशेष विधि यह है कि वह स्नान करते समय इसी मंत्र से पानी डाले और अपने आसन पर बैठकर भूतशुद्धि के लिए कम-से-कम तीन प्राणायाम करे। अ से लेकर अः तक के स्वर बोलकर बोलता हुआ श्वास भीतर खींचे इसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, क से लेकर म तक पच्चीस अक्षर का उच्चारण करता हुआ श्वास को रोके रहे इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। य से क्ष तक के अक्षर बोलता हुआ श्वास को बाहर निकाल दे इसे रेचक प्राणायाम कहते हैं। इस प्रकार के प्राणायाम से भूतशुद्धि होती है। तदनतर पञ्चोपचार या षोडशोपचार से पूजन करे। इस विधि से करते रहने पर मंत्र सिद्ध हो जाता है। सातवें दिन और आठवें दिन यदि कोई विशेष बात नहीं दिखाई दे तो नवें दिन साधक कि सातवें दिन की तरह इस मंत्र का अनवरत जप करता रहे। रात्रि में जगता हुआ वीर हनुमान के ध्यान में तल्लीन रहे तथा वातावरण को परम पवित्र और सुगन्धित बनाए रखे।

इस दिन तक आते-आते साधक मन से पवित्र हो जाता है और मंत्र की शक्ति प्रदीप्त होने लगती है ऐसी स्थिति में यदि मंत्र का जप और अधिक एकाग्रता से किया जाए तो उससे सिद्धि मिलकर ही रहती है।

भाग्यवश अञ्जनीनन्दनी प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं तो उनको भक्ति भावना से प्रणिपात प्रसाद द्वारा प्रसन्न करे तथा मनोकामना निवेदन करे सातवें दिन यदि यह स्थिति न आए तो अत्यन्त करुण भाव से अशरण दीन बनकर हनुमान को पुकारे और इसी भावना से इस मंत्र का जप करे तो नवें दिन पवन नन्दन निश्चित रूप से दर्शन देते हैं। इस तरह जब मंत्र सिद्ध हो जाता है तो उसका किसी भी काम के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इस मंत्र का विनियोग पहले वाले मंत्र का ही है।

दुर्भाग्यवश यदि कोई कारागार में पड़ जाए तो उसे अपने बाएं हाथ की हथेली पर दांयें हाथ से यह मंत्र लिखना चाहिए। 'हरि मर्कट मर्कट वाम करे परिमुञ्चति मुञ्चति शृंखलिकाम्' लिख—लिखकर मिटाना चाहिए। विषम संख्या में ऐसे प्रयोग किए जाते हैं। अर्थात् इस प्रकार लिखना और मिटाना १, ३, ५, ७, ११, १३ आदि बार करना चाहिए। इसके साथ ही एकाग्र भाव से इस मंत्र का जप करते रहने के कारागार मुक्ति होती है, हाथ की हथकड़ियां और पैर की बेड़ियां हट जाती हैं। इस मंत्र में भगवान हनुमान का मर्कट और हरि=हरण करने वाले के रूप में स्मरण करके यह निवेदन किया जाता है कि वे हमारी शृखला को दूर करें। यह प्रयोग अत्यन्त चमत्कारी है और अमोघ है।

तुलसी रामायण के प्रयोग

यों मंत्र वैदिक, पौराणिक और तांत्रिक ही होते हैं पर किसी भी शब्दावली को मंत्र बनाने के लिए देवता द्वारा अथवा तपस्या द्वारा शक्ति सम्पन्न किया जाता है तुलसी की रामायण एक काव्य है पर उसके विशिष्ट स्थलों की चौपाइयों, दोहों और सोरठों को काशी विश्वनाथ के वरदान द्वारा शक्ति सम्पन्न कर दिया गया है और वे मंत्र के रूप में साधना का विषय बन सकती हैं इसमें सन्देह करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि आज संस्कृत मंत्रों का शुद्ध उच्चारण उनकी साधना,

उनकी कठिन विधि आदि ऐसे हैं जिनको साधारण व्यक्ति नहीं निभा पाता इसलिए रामचरित मानस की पंक्तियां सर्व सुलभ होने के साथ-साथ अधिक व्यक्तियों के लिए उपयोगी हो सकती हैं और उनसे लाभ भी उतना ही मिल सकता है, मंत्रों में जप ही सिद्धिदायक होता है और मानसिक जप में स्नान, स्थान आदि की उतनी पाबन्दी नहीं मानी जाती इसलिए व्यक्ति जितना जप करेगा उतनी ही सफलता मिलेगी। किसी विशेष कार्य के लिए किया गया प्रयोग दुहरा लाभ देता है, कार्य तो सफल होता ही है, उसके साथ भगवान का नाम लेने का पुण्य भी अर्जित होता है। जप चाहे मानसिक हो या श्रव्य उसे लय सहित (रामायण की चौपाई-दोहे आदि में) करना चाहिए पर वह लय केवल मनोयोग करने तक ही सीमित हो ऐसा न हो कि राग प्रधान हो जाए और उसके शब्द गौण बन जाएं।

नीचे जो (मंत्र) प्रयोग दिए जा रहे हैं वे विशिष्ट कार्यों के लिए हैं पर उनको कार्य सम्पूर्ण हो जाने बाद भी चालू रखा जा सकता है किन्तु कुछ समय के ही लिए दैनिक उपासना में इनका समावेश अधिक लाभ कर नहीं होता।

ये प्रयोग सात्विक और फलदायक हैं इसलिए इनके सम्बन्ध में जप की संख्या निश्चित करने के स्थान पर श्रद्धा और विश्वास को मान्यता दी जाए और इनको तब तक चालू रखा जाए जब तक कार्य सम्पन्न न हो। साधक को चाहिए कि वह भगवान का ध्यान करता रहे, अनन्य गति होकर उनके चरणों में समर्पित होने की भावना रखे अपने कार्य को अधिक रूप से स्मरण न करे।

अधिक अच्छा हो इस रक्षा रेखा के मंत्र को पहले सिद्ध कर लिया जाए क्योंकि इससे प्रयोग में अथवा प्रयोगकर्ता पर जो बाह्य विघ्न आ सकते हैं उनसे बचाव हो जाता है, इसे सिद्ध करने की वही विधि है, जो दूसरे प्रयोगों की है। रक्षा रेखा के नाम से यह प्रारम्भिक प्रयोग है। मंत्र है—

मामभि रक्षय रघुकुल नायक,
धृतवरचाप रुचिर करसायक।

इसे बोलकर चौकोर रेखा पानी अथवा कोयले से खींच लेनी चाहिए जितनी दूर में आसन आ सके। आसन, ऊन, कुश अथवा रेशम का हो।

प्रयोग विधि

ये प्रयोग नियत जप संख्या के नहीं है अतः शुभ दिन देखकर रक्षा रेखा खींचकर साधक बैठ जाए। साधक का मुख पूर्व अथवा उत्तर दिशा में रहे। पहले दिन रात्रि को दस बजे बाद जिस भी किसी मंत्र की साधना करनी हो उसका जप करता हुआ एक सौ आठ आहुति दे। प्रयोग शुरू करने के पहले भगवान राम का स्मरण करके उनकी पंचोपचार अथवा षोडषोपचार से पूजा करे। हवन अष्टांग सामग्री से करे। अष्टांग हवन में—चन्दन का बुरादा, तिल, देशी घी, (गाय का हो तो अधिक अच्छा) देशी चीनी, अगर, तगर, नागर मोथा, कपूर, केसर, पंचमेवा, जौ और चावल होते हैं, पंचमेवा में अखरोट, बदाम, किशमिश, पिस्ता और काजू माने जाते हैं। केसर यथा शक्ति और घी-चीनी के लिए 'यथेच्छम् घृत शर्करा' कहा गया है। इन सारी वस्तुओं को एकत्रित करके एक सौ आठ आहुति दे। अनुमानतः इन सबकी समान मात्रा ले ले (केसर जैसे महर्घ पदार्थ में न्यूनाधिक भी हो तो कोई आपत्ति नहीं) एक किलो सामग्री में एक सौ आठ आहुति हो सकती हैं। जिस भी मंत्र का प्रयोग करना हो उसी को बोलकर उसके अन्त में 'स्वाहा' शब्द जोड़ दे और स्वाहा के साथ ही अग्नि में आहुति दे दे। हवन में खेजड़े-शमी-की लकड़ी, पलाश की लकड़ी, बिना पाथे गोबर के उपले प्रयोग किए जाएं। वेदी के लिए विशेष बन्धन नहीं है। हां, स्वच्छ बालू से साधारण वेदी बनाकर (उदकेनाभ्युक्ष्य, गोमयेनोपलिप्य, श्रुवेणोल्लिख्य आदि संस्कार करके,) हवन करे। हवन करने से मंत्र जाग्रत हो जाता है फिर साधक प्रतिदिन प्रातः काल अथवा रात्रि में सोते समय उस मंत्र का एक सौ आठ वार जप करे। जप करने से पहले भगवान श्री राम, सीता या हनुमान जो भी उस मंत्र के देवता हों—का ध्यान कर ले और अन्त में वह जप उन्हीं के दाहिने हाथ में समर्पित करने की भावना कर समाप्त कर दे। प्रयोग के चालू रहते सात्विक भावना का प्रवाह बना रहने दे और मन में यह पूर्ण विश्वास रखे कि भगवान की

कृपा से उसका कार्य सम्पूर्ण होगा ही। विशिष्ट कार्यों के लिए विशिष्ट मंत्र हैं—

परीक्षा में सफलता के लिए

जेहि पर कृपा करहि जनु जानी, कवि उर अजिर नचावहि बानी।
मोरि सुधारिहि सो सब भांति, जासु कृपा नहि कृपा अघाती ।।

दूर गए व्यक्ति को बुलाने अथवा आकर्षण के लिए

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू।

विद्या प्राप्त होने के लिए

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई, अलप काल विद्या सब आई।

विवाह के लिए

तब जनक पाइ वसिष्ट आयसु, व्याह साज संवारि के।
माण्डवी श्रुत कीरति उरमिला, कुंअरि लई हंकारि के ।।

मुकद्दमा जीतने के लिए

पवन तनय वल पवन समाना, बुद्धि विवेक विज्ञान निधाना।

धन प्राप्ति के लिए

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहि, सुख सम्पति नाना विध पावहि।

सुख प्राप्ति के लिए

सुनहि विमुक्त विरत अरू विषई,
लहहि भगति गति सम्पति नई।

पुत्र प्राप्ति के लिए

प्रेम मगन कौशल्या निशिदिन जात न जान,
पुत्र सनेह बस माता बालचरित कर गान।

नौकरी मिलने के लिए

विश्व भरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई।

शत्रु को मित्र बनाने के लिए

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई, गोपद सिन्धु अनल सितलाई।

खोई चीज पाने के लिए

गई बहोर गरीब नेवाजू, सरल सबल साहिब रघुराजू।

विपत्ति दूर करने के लिए

सकल विघ्न व्यापहि नहि तेही, राम सुकृपा विलोकहि जे ही।

आधि-व्याधि दूर करने के लिए

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू, महामोह निशि दलन दिनेशू।

दरिद्रता दूर करने के लिए

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के, कायद धन दारिद दवारि के।

यात्रा की सफलता के लिए

प्रविसि नगर कीजे सब काजा, हृदय राखि कोसलपुर राजा।

विचार पवित्र रखने के लिए

ताके युग पद कमल मनावउ, जासु कृपा निरमल मति पावउ।

मुक्ति के लिए

सत्य सन्ध छांड़े सर लच्छा, काल सर्प जनु चले सपच्छा।

हनुमान जी को प्रसन्न करने के लिए

सुमिरि पवन सुत पावन नामू, अपने बस करि राखे रामू।

राम के दर्शन प्राप्त करने के लिए

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना, बिस्वबास प्रकटे भगवाना।

भक्ति प्राप्त करने के लिए

भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपा सिन्धु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥

अकल्पित और कठिन विपत्ति निवारण के लिए

दीनदयाल बिरद संभारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।

सभी रोग दोष की शान्ति के लिए

दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज काहू नहि व्यापा।

ये प्रयोग तुलसी के दिए हैं और शंकर भगवान ने इनमें शक्ति प्रवेश किया है, इनके सम्बन्ध में इतना निश्चय से कहा जा सकता है कि ये सिद्ध भले ही विलम्ब से हों पर इनमें कोई भूल-चूक होने से किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होता। सिद्धि के लिए व्यक्ति को उतावला नहीं होना चाहिए। ये प्रयोग स्त्रियों के लिए भी सिद्धि देने वाले हैं पर रजस्वला अवस्था में न करने चाहिए।

वशीकरण

इस संसार में व्यक्ति को सभी तरह के व्यवहार करने पड़ते हैं शत्रुता और मित्रता, स्नेह और द्वेष—इसीका नाम तो दुनिया है। शत्रुता प्रायः स्वार्थों का टकराव है, अहंकार की परिणति है और कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो शठता और शत्रुता से ही वश में आते हैं। राम जैसे शान्तिप्रिय और अकारण स्नेही को भी शठता और शत्रुभाव रखना पड़ा। संसार के लिए द्वेष जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक प्रेम और स्नेह भी पर शायद स्नेह की दुनिया अधिक विशाल है, शायद प्रेम की शक्ति सबसे बड़ी है। किसी व्यक्ति के साथ हुई शत्रुता को दूर करने के लिए अथवा प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वशीकरण का प्रयोग किया जाता है।

मंत्र शास्त्रों की प्रत्येक शाखा में तंत्रों में और यंत्रों में वशीकरण के प्रयोग मिलते हैं। कई बार शत्रुता से जो काम नहीं होते वे प्रेम से हो जाते हैं और सच तो यह है कि आज के इस संसार में प्रेम की आवश्यकता सबसे अधिक है, प्रेम का वशीकरण ऐसा है जिसे मानव ही नहीं पशु-पक्षी और पेड़-पौधे तक जानते-मानते हैं। वशीकरण अपने प्रति प्रेम पैदा करने का प्रकार है आगे इस के प्रयोग दिए जा रहे हैं। ये प्रयोग क्रमिक हैं अर्थात् पहले के प्रयोग से सफलता यदि न मिले तो दूसरा, दूसरे से न मिले तो तीसरा और तीसरे से न मिले तो चौथा आदि। अन्त में जो प्रयोग हैं वे मेरे अनुभूत नहीं हैं पर वे ऋषियों द्वारा वर्णित हैं, उनकी प्रशंसा और प्रामाणिकता के बारे में बहुत जगह लिखा हुआ मिला है। उग्र और जटिल प्रयोग मैंने अनुभूत होने पर भी नहीं लिए हैं क्योंकि आज के व्यक्ति में इतना धैर्य, इतना समय और इतनी सावधानी नहीं है फिर उनमें गुरु की आवश्यकता पड़ती है। हां, इन प्रयोगों में जो इस प्रकरण में लिखे जा रहे हैं गुरु की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं है पर किसी इष्ट को मानना परम आवश्यक है। इष्ट ही गुरु और देवता दोनों का काम पूरा कर देता है। इसके साथ ही मंत्र में विश्वास और सिद्धि के प्रति निश्चिन्तता मन में अवश्य रखनी चाहिए। पहला प्रयोग बिना किसी मंत्र का है इसमें व्यक्ति की इच्छा शक्ति ही काम करती है। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि केवल इच्छा शक्ति से कार्य नहीं होता। इच्छा शक्ति अपने स्थान पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व है हठ योग, मैस्मरिज्म, हिप्नाटिज्म आदि इच्छा शक्ति को केन्द्रित मान कर ही चलते हैं। सवाल यदि है तो इतना ही कि इच्छाशक्ति को उद्दीप्त किस तरह किया जाए। अस्तु! वशीकरण प्रयोगों में इतना निवेदन अवश्य करूंगा कि केवल शारीरिक वासना की पूर्ति के लिए इन प्रयोगों को करना उचित नहीं है। मंत्र बड़े शक्ति सम्पन्न होते हैं इनके जरिये किसी को आकृष्ट करना और क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति करने का माध्यम करने से मंत्र की नहीं साधक की अवनति होती है, उसे पाप लगता है। मैं इसके प्रयोग करने की ऐच्छिकता साधक के विवेक पर छोड़ता हूं। इन प्रयोगों को करने के पहले साधक पवित्र होकर अपने इष्ट देवता का स्मरण अवश्य कर ले और उनसे यह याचना कर ले कि वे उसे सफलता प्रदान करें।

इष्ट को स्मरण करने के लिए मंत्र या श्लोक याद न हो तो चाहे जिस भाषा में स्वच्छ हृदय और एकाग्र मन से प्रार्थना कर ले।

बिना मंत्र के वशीकरण

व्यक्ति रात को सोते समय, हाथ-पांव धोकर उत्तर की ओर सिर करके सो जाए। अपने शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दे और गम्भीर श्वास ले। उस समय केवल श्वासों की गति में ही ध्यान केन्द्रित रहे। पांच-सात श्वास लेने के बाद जब चित्त स्थिर हो जाए तो अपने इष्ट देवता का स्मरण करे, उनको प्रणाम करे और प्रयोग में सफलता देने की याचना करे। यदि उनके नाम याद हों तो ग्यारह या इक्कीस बार जप ले। अब जिस व्यक्ति का वशीकरण करना हो उसकी कल्पना करे और इतना ध्यानस्थ होकर सोचे कि जैसे वह व्यक्ति सामने खड़ा है और उसकी बात सुन रहा है। उस काल्पनिक मूर्ति को वह पूरे विश्वास से कहे और अधिकार भरे स्वर में कहे—मैं तुमसे प्रेम करता हूं, तुम्हें भी प्रेम करना पड़ेगा, मैं तुम्हें मन से चाहता हूं, तुम्हें भी मुझे चाहना पड़ेगा, मैं तुम पर निछावर हूं। ये वाक्य निरन्तर चार-पांच दिन तक कहने पर उस व्यक्ति की आकृति पर इसके प्रभाव लक्षित होने लगेंगे अर्थात् जब उसकी कल्पना की जाएगी तो प्रसन्नता के, नाराजी के, तटस्थता के भाव उसके चेहरे पर प्रकट होने लगेंगे। यदि उस व्यक्ति के मुख पर नाराजी के या तटस्थता के चिह्न प्रकट हों तो उसे प्रसन्न करने के लिए प्रेम की भीख मांगी जाए। जिस दिन कल्पना की मूर्ति प्रसन्न दिखने लगेगी उसी दिन से उस व्यक्ति के मन में प्रेम का अंकुर फूटने लगेगा।

देवी मंत्र द्वारा वशीकरण

वशीकरण के लिए दुर्गा सप्तशती का—

ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती ही सा।
बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति॥

मंत्र अचूक है प्रयोग करने के पहले भगवती त्रिपुर सुन्दरी का ध्यान करे, उनकी पंचोपचार से पूजन करके अपना मनोरथ निवेदन कर देना

चाहिए। जिस व्यक्ति का वशीकरण करना हो उस व्यक्ति की मूर्ति अपने मन में कल्पित कर ले और उसीको सुनाकर इस मंत्र का जप करे। प्रतिदिन पांच-ग्यारह माला जपने से कार्यसिद्धि और मंत्र सिद्धि हो जाती है। एक बार मंत्र सिद्ध होने पर दुबारा प्रयोग करने पर इतना श्रम नहीं करना पड़ेगा। वशीकरण में लाल रंग के फूल और आसन अच्छे रहते हैं।

सप्तशती द्वारा वशीकरण

शुभ दिन देखकर अथवा चैत्र और आश्विन के नवरात्रों में दुर्गा-सप्तशती का पाठ करे। धूप-दीप पाठ करे तब तक चलता रहे। प्रत्येक श्लोक के आदि और अन्त में ऊपर लिखे श्लोक का सम्पुट लगाकर पवित्रता और श्रद्धा सहित नौ दिन तक परायण करे। नवें दिन नौ कुमारिकाओं का पूजन करके उनको भोजन कराकर लाल वस्त्र दे। नौ दिन तक पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहे, सात्विक भोजन करे, धरती पर शयन करे और उक्त मंत्र की एक सौ आठ आहुति देकर हवन करे। हवन में अष्टांग हवन की सामग्री ली जाए।

तान्त्रिक प्रयोग

सुनारों के यहां तोलने के काम आने वाली गुंजा (चिरमी) लाल रंग की होती है वैसी ही सफेद और आती है। जहां वह सफेद चिरमी हो उसकी जड़ रविवार पुष्य नक्षत्र को ले आवे। जिस दिन जड़ लेने जाए स्नान करके पवित्र होकर जाए तथा रास्ते में किसी से बोले नहीं, उस वृक्ष को पहले दिन जाकर निमन्त्रण दे आवे। जड़ को अपने वीर्य में भावना देकर जिस भी किसी को खिलादे वह वश में होता है।

चित्र द्वारा वशीकरण

जिस व्यक्ति का वशीकरण करना हो और यदि उसका चित्र सुलभ हो सके तो स्वस्थ होकर पलथी मार कर बैठ जाए। सामने उस व्यक्ति का चित्र रख ले। प्राणायाम द्वारा मन को एकाग्र करने की चेष्टा करे फिर विचारों को केन्द्रित कर ले। पूरे विश्वास के साथ यह भावना रखे कि यह

व्यक्ति वश में आ रहा है, आना पड़ेगा। मन में ही उस चित्र को सम्बोधित करता हुआ बार-बार यह दोहराये कि मैं तुम पर अनुरक्त हूं आओ ! हम दोनों एक-दूसर के मित्र वन जाएं। धीरे-धीरे चित्र के द्वारा ही संकेत मिलने लगेंगे और जब अनुकूल संकेत मिलने लगे तो यह मान लेना चाहिए कि प्रयोग सफल हो रहा है और व्यवहार में भी यह जाहिर हो जाएगा कि वह व्यक्ति आपकी ओर झुकने लगा है।

हाजरात

हाजरात मुसलमानी प्रयोग है। इसमें किसी निष्पाप बालक के कजली चढ़ाई जाती है अथवा अंगूठे पर स्याही लगाकर उसमें देखने को कहा जाता है और आश्चर्य यह कि अंगूठे के नाखून में उसे सब कुछ दिखने लगता है। मैंने बचपन में ऐसा प्रयोग करते हुए एक व्यक्ति को देखा था और उस अबोध बालक ने, जो करीबन आठ-नौ वर्ष का रहा होगा, जो भी कुछ बतलाया वह सब सही निकला। यहां वही हाजरात का प्रयोग दिया जा रहा है। साधक आधी रात के वक्त यह सुबह पश्चिम की तरफ मुंह करके बैठ जाए और उल्टी माला से (उलटी का मतलब है सामान्य रूप से माला के मणिएं आगे से पीछे जाते हैं इसमें पीछे से आगे सरकाए जाते हैं) एक सौ आठ बार जपे अर्थात् एक माला फेर ले। मंत्र है—

'ख्वाजा खिज्र जिन्द पीर मैंदर मादर दस्तगीर मदत मेरा पीरान पीर करो घोड़े पर भीड़ चढ़ो हजरत पीर हाजर सो हाजर।'

इक्कीस दिन तक जप करने से यह मंत्र सिद्ध हो जाता है फिर जिस दिन इसको चढ़ाना हो उस दिन सुबह आठ बजे से पहले सीधे सच्चे बालक को लाकर उसके दाहिने हाथ के अंगूठे में स्याही (काली) लगा दे। लड़का स्नानदि करके पवित्र रहे। नाखून की स्याही में उस लड़के को देखने के लिए कहे और साधक से जब लड़का यह कहे कि मुख दिखने लग गया तो उससे कहे कि मुख दिखना वन्द हो जाए और चौगान नजर आवे जब चौगान दिखने लगे तो कहा जाए दो आदमी आवें, वे आ जाएं तब दो और, फिर दो और फिर दो। इस तरह आठ आदमी आ जाएं तो

उनसे कहा जाए झाड़ू वाले को बुलाओ, झाड़ू लगवाओ, भिश्ती को बुलवाओ छिडकाव कराओ, फर्श वाले से फर्श मंगवाओ, बिछवाओ, दो कुर्सी और तख्त मंगवाओ, गद्दी बिछवाओ। यह सब हो जाने पर कहा जाए कि पीरान पीर साहब से जाकर अर्ज कराओ कि आपका··· (साधक का नाम) भक्त आपको याद कर रहा है सो मुंशी साहब को साथ लेकर पधारो। जब पीरान पीर आकर कुर्सी पर बैठ जाएं तो मुंशी साहब से अर्ज करे कि पीरान पीर साहब से अर्ज करो कि··· भक्त आपसे··· (प्रश्न) काम पूछता है। लड़के को उत्तर मिलेगा अगर लड़का वह उत्तर न समझे तो मुंशी साहब से कहे कि हमें···भाषा में लिखकर समझाओ या दिखा दो और मुंशी साहब लड़के को इच्छित भाषा में लिखकर दिखला देंगे। काम पूरा होने पर पीरान पीर साहब से जाने की अर्ज करे और तकलीफ देने के लिए माफी मांग ले और अंगूठे की स्याही धो डाले।

ध्यान देने योग्य—जिस समय साधक इस मंत्र को सिद्ध करे और जिस समय किसी बालक पर स्याही चढ़ावे उस समय सारे समय भर लौंग, इलायची, लोबान की धूप खेता जाए अर्थात् एक मिट्टी के बर्तन में अंगारे या उपले रखकर उन पर लौंग, इलायची, लोबान डालता जाए।

बगलामुखी की उपासना

जीवन में आपत्ति-विपत्ति आती ही रहती हैं, शत्रुओं की शत्रुता से हानि भी पहुंचती है तो कई बार झूठी बातों से अपयश होता है। विपत्ति से घिरने पर, मुकदमे में फंसने पर और शत्रुओं की प्रबलता होने बगला-मुखी की उपासना की जाती है। इसके अनुष्ठान से शत्रु प्रभावहीन हो जाते हैं और विपत्तियां समाप्त हो जाती हैं यह अनुभूत सत्य है। एक बार मेरे परिचित व्यक्ति पर तीन सौ दो का (हत्या का) केस लग गया था। वह व्यक्ति निःसन्देह रूप से निर्दोष था किन्तु कानून और गवाहों के आधार पर वह अपराधी होता था। मैंने उसे बगलामुखी का प्रयोग बतलाया और वह छूट गया। इन अनुभवों के आधार पर मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि विषम समस्या और विपत्ति से घिर जाने पर यह प्रयोग

अचूक सिद्ध हुआ है।

बगलानुखी का दूसरा नाम पीताम्बरा भी है इसलिए इसका प्रयोग करते समय प्रत्युक वस्तु पीली ही हुआ करती है। देवी को चढ़ाने के लिए पीले कनेर के फूल या पीले रंग के फूल, गाय का घी (दीपक में) अथवा सरसों का तेल, हल्दी की माला, पहनने को—उपासना के समय—पीला वस्त्र, पीने के लिए पीली गाय का दूध, खाने में बेसन की वस्तुएं और आसन पीले रंग का। कहने का आशय यह है कि साधक अपने आपको पीले रंग की वस्तुओं से सज्जित कर ले और बगलामुखी का ध्यान करे तो उनका रंग और वस्त्र पीले ही मानकर चले।

विधि—आधी रात के समय दक्षिण की तरफ मुख करके बैठना चाहिए। इस प्रयोग में स्नानदि की पवित्रता पूरी रखनी चाहिए क्योंकि यह प्रयोग उग्र प्रयोग है इसलिए शुद्धता और पवित्रतापूर्वक करने से चमत्कारिक सफलता मिलती है। यों बगलामुखी की उपासना का बड़ा विस्तृत विधान है किन्तु संक्षेप से करने पर भी कार्य सिद्धि होती है।

कार्यरंभ करने से पूर्व गणपति और इष्ट देवता का स्मरण करके दाहिने हाथ में जल लेकर संकल्प बोले—संकल्प में देश, काल और स्थान का वर्णन करके कार्य का नाम ले फिर······नामा हम् बगलामुखीदेव्या: आराधनम् करिष्ये, कहकर वह पानी धरती पर डाल दे। पूरा संकल्पा इस तरह है, जम्बुद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तान्तर्गत ब्रह्मावर्तैक देशे, गंगाया: उत्तरे तटे नर्मदाय: दक्षिणे तटे······राज्ये······ग्रामे······ संवत्सरे······मामानां मासोत्तमे मासे······मासे······पक्षे······तिथौ ······वासरे······नामा हम् विपत्ति विनाशार्थम्। शत्रु पराभवार्थम्। न्यायालयस्थाभियोग निवारणाय बगलामुखी—देव्या: जपं पाठं च करिष्ये।

पालथी मारकर बैठा हुआ साधक बगलामुखी का ध्यान करे। ध्यान करने का मंत्र है—

श्यामवर्णा चतुर्बाहुम् शंखचक्रलसत्कराम्।
गदापद्मधरां देवीम् सूर्यासनकृताश्रयाम्।
निशीथे वरदाम् देवीम् गायत्रीम संस्मरेत् हृदि।

ध्यान के बाद आवहन, आसन, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, फल, ताम्बूल, धूप, दीप, नैवेद्य समर्पित करके—

'मातर्भञ्जय मद्विपक्ष वदनं जिह्वांचलां कीलय,
ब्राह्मीं मुद्रय मुद्रयाशु धिषणामुग्रां गतिं स्तम्भय।'
शत्रूंश्चूर्णय चूर्णयाशु गदया गौरांगि पीताम्बरे,
विघ्नौघं बगले हर प्रणमतां कारुण्यपूर्णेक्षणे।।

इस श्लोक से नमस्कार निवेदन करे।

भगवती पीताम्बरा का अर्चन-पूजन करने के बाद अंगन्यास करन्यास करे। करन्यास—ह्लीम् अंगुष्ठाभ्याम् नमः। बगलामुखी तर्जनीभ्याम् नमः। सर्वदुष्टानां मध्यमाभ्याम् नमः। वाचं मुखं पदं स्तम्भय अनामिकाभ्याम् नमः। जिह्वाम् कीलय कीलय कनिष्ठिकाभ्याम् नमः। बुद्धिम् नाशाय ह्लीम् ओम् करतल कर पृष्ठाभ्याम् नमः। अर्थात् ह्लीम् बोलकर अंगूठे को अंगुलियों से बगलामुखी बोलकर अंगूठों से पहली अंगुली को, सर्वदुष्टानाम् बोलकर बिचली अंगुली को छूता जाए यह करन्यास है। अंगन्यास में दाहिने हाथ की अंगुलियां और अंगूठा मिलाकर उन अंगों को छूता जाए जिनके लिए लिखा गया है 'ओम् ह्लीम् हृदयाय नमः। बगलामुख शिर से स्वाहा। सर्वदुष्टानाम् शिखायै वषट्। वाचं मुखं पदं स्तम्भय कवचाय हुम्। जिह्वाम् कीलय कीलय नेत्र त्रायाय वौषट्। बुद्धिम् विनाशय ह्लीम् ओम् अस्त्राय फट् तब हाथ में जल लेकर विनियोग करना चाहिए। विनियोग है—ओम् अस्य श्री बगलामुखी मंत्रस्य ब्रह्म ऋषिः गायत्री छन्दः बगलानाम्नी चिन्मयशक्तिर्देवता ओम् बीजम् ह्लीम् शक्ति जपे विनियोगः।

प्राणायाम करके मन को स्वास्थ एकाग्र कर ले और बगलामुखी के मंत्र का जप करे। मंत्र है—ओम् ह्लीम् बगलामुखि सर्वदुष्टानाम् वाचं मुखं पदं स्तम्भय जिह्वाम् कीलय कीलय बुद्धिम् नाशय ह्लीम् ओम्। इस मंत्र की ग्यारह माला जपे। माला जपने के पश्चात् बगलामुखी स्तोत्र के ग्यारह पाठ करे। यह जप और पाठ 'गुह्याति गुह्य गोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपं सिद्धिर्भवतु मे देवित्वत्प्रासादान्महेश्वरि।'

इस मंत्र को बोलकर देवी के वांयें हाथ में अर्पित कर दे।

जहां तक मेरा विश्वास और अनुभव है इस प्रयोग के नवें या ग्यारहवें

दिन तक ही काम सफल हो जाता है। इसलिए समाप्ति के दिन जितने पाठ अथवा जप हुए उनका दशांश हवन और क्वारी कन्याओं को भोजन करावे। भोजन में पीली वस्तु और पीला कपड़ा उन कुमारिकाओं को दे। पूर्ण संयम और पवित्र रहने से यह प्रयोग सारी विपदाओं को हरता है।

स्त्री-सुख प्राप्ति के लिए प्रमदा मंत्र

इस मंत्र का प्रयोग अभीष्ट स्त्री के विवाह करने के निमित्त किया जाता है। यदि मंत्र सिद्ध हो जाए तो किसी भी स्त्री पर इसका प्रयोग किया जा सकता है। यह मंत्र छिन्नमस्ता वाले प्रकरण में 'मंत्र महोदधि' में वर्णित है। व्यक्ति अपनी पात्रता का विकास करके शक्ति को प्रमदा के रूप में मूर्त कर सकता है। स्मरण रहे—ऐसे प्रयोग सिद्ध करने में कष्ट उठाना पड़ता है, 'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि' (काम सिद्ध करूंगा अन्यथा मृत्यु का वरण कर लूंगा) की भावना से दृढ़ व स्थिर चित्त से किया जाता है, इतने आश्वस्त भाव और अकम्पित विश्वास के सहारे किया गया कार्य सम्पन्न होता ही है फिर भी परांबा की कृपा हो जाए तो इस प्रकार की सिद्धि का वैषयिक सुख के लिए अनर्गल उपयोग करने से साधक की अधोगति होती है। मंत्र की देवता स्वयं प्रकट हो जाए तो उसके साथ रमण करने में कोई अनिष्ट नहीं होता, व्यक्ति तेजस्वी चिरयुवा होता है और इस प्रकार के अभौतिक रमण में लोकेतर आनन्द मिलता है। ऐसा पूर्व जन्म के पुण्यवान् और भाग्यवान् को ही संभव होता है।

विधि—किसी भी प्रयोग के करने की सामान्य विधि से हम परिचित हो चुके हैं फिर भी यहां उसे फिर दोहराया जा रहा है। आसन, माला, दिशा आदि का निश्चय वशीकरण के लिए दिए गए, नियत-विधान, में देखकर लिया जाए। इसके बाद जो कुछ करना है वह इसी क्रम से किया जाए—

संकल्प—साधक वर्ष, मास, तिथि, वार बोलकर अपने गोत्र, नाम का उच्चारण करके अस्य श्री प्रमदा मंत्रस्य—संख्याकं जपं करिष्ये। खाली स्थान में वह संख्या बोल दे जितनी संख्या में जप करना है। फिर अपनी बांयी तरफ गुं गुरुभ्यो नमः, दाहिनी तरफ गं गणपतये नमः और सामने

इष्ट देवताभ्यो नमः कहकर नमस्कार कर ले।

विनियोग—अस्य श्री प्रमदा मंत्रस्य शक्ति ऋषिः गायत्री छन्दः प्रमदा देवता श्री प्रमदा देवता प्रसन्नार्थे जपे विनियोगः।

ध्यान—केयूर मुख्याभरणाभिरमां, वराभये सन्दधतीं कराभ्याम्।
संक्रन्दनादयामर सेव्यपादाम्, सत्कांचनाभां प्रमदां भजामि॥

इसका अर्थ है—वह देवी स्वर्ण सुगौर है, हाथ-गला और मस्तक पर गहने पहने हुए है, एक हाथ से वर और दूसरे से अभय दे रही है, इन्द्रादि देवता उसकी चरण सेवा कर रहे हैं।

ध्यान में वर्णित रूप की कल्पना करके अपने हृदय में स्थापित कर ले। इसका यंत्र बना कर उसकी पूजा करे तो और भी अच्छा अन्यथा अपने सामने पट्टे पर लाल कपड़ा बिछा कर उस काल्पनिक मूर्ति का पूजन करे। पूजन में आसन तो है ही, स्नान कराने के लिए पवित्र जन हो तो स्नान अन्यथा देवता को नित्य शुद्ध मानकर गंध (रोली), पुष्प, धूप, दीप और प्रसाद से पंचोपचारवती पूजा करे। अब न्यास करे। तीन प्रकार के न्यास करने की परम्परा है। इसमें पहला ऋष्यादि न्यास है जो संहार क्रम से होता है दूसरा मूल मंत्र का है जो सृष्टि क्रम से होता है।

पहला न्यास—शक्ति ऋषये नमः शिरसि, गायत्री छन्द से नमः मुखे, प्रमदा देवतायै नमः हृदये, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

दूसरा न्यास—करन्यास है। यह बीज मंत्र से किया जाएगा—ह्लां अंगुष्ठाभ्यां नमः, ह्लीं तर्जनीभ्यां नमः, ह्लूं मध्यमाभ्यां नमः, ह्लैं अनामिकाभ्यां नमः, ह्लौं कनिष्ठाभ्यां नमः, ह्लः करतल करपृष्ठाभ्यां नमः।

तीसरा न्यास—ह्लां हृदयाय नमः, ह्लीं शिरसे स्वाहा, ह्लूं शिखायै वषट्, ह्लैं कवचाय हुम्, ह्लौं नेत्र त्रयाये वौषट्, ह्लः अस्त्राय फट्।

अब जप करना प्रारम्भ कर दे। जप का मंत्र है—'ह्लीं प्रमदे स्वाहा।'

जप करते समय किसी से बात करना, पैर फैलाना नीच जनों और जीवों को देखना वर्जित है। माला गौमुखी में रखकर जपी जाए तथा सुमेरू को लांघा न जाए, एक माला सम्पूर्ण होने पर माला को आंखों से छुआ कर पलट लिया जाए।

इसका पुरश्चरण छः लाख जप से होना है। कहने की आवश्यकता

नहीं कि किसी भी मंत्र को सिद्ध करने के लिए पुरश्चरण किया जाता है। सामान्यतया बीज मंत्रों का पुरश्चरण अधिक संख्या में जप करने से सम्पन्न होता है। इस मंत्र में छः अक्षर हैं इसलिए छः लाख जप करने की व्यवस्था है। जप का दशांश हवन घी से करे।

तंत्र शास्त्र का वचन है कि निर्जनावन में जाकर तिहत्तर दिन तक रात्रि में दस हजार जप करे, खीर से दशांश हवन करे, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे तो प्रमदा देवी प्रकट होकर साधक का अभीष्ट पूर्ण करती है। कोई भी मंत्र सिद्ध हो जाने के बाद आवश्यकता पड़ने पर एक या ग्यारह माला जपने पर काम कर देता है।

बन्दी मोक्षण मंत्र

इस मंत्र का प्रयोग मुक्ति के लिए किया जाता है। यह मुक्ति संसार के द्वन्द्वों से हो, ऋण से हो, दुष्टजनों से हो अथवा कारागृह से हो। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे बन्दी मुक्ति के लिए 'संकट मोचन' तुलसीदास रचित का प्रयोग कर सकते हैं।

मंत्र है—"ॐ हिलि हिलि बन्दीदेव्यै नमः"

संकल्प—प्रमदा मंत्र की तरह ही करना होगा इसमें प्रमदा मंत्र की जगह बन्दी मंत्र बोला जाएगा।

विनियोग—अस्य बन्दी मंत्रस्य भैरव ऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः बन्दी देवता मम अभीष्ट सिद्धये जपे विनियोगः।

ध्यान—सतोयपाथोद समानकान्तिम्, अंभोजपीपूष करीरहस्ताम्।
सुरांगनासेवित पादपद्माम्, भजामि बन्दी भवबंधमुक्तये॥

न्यास—भैरव ऋषये नमः शिरसि, त्रिष्टुप्छन्द से नमः मुखे, बन्दी देवतायै नमः हृदये विनियोगाय नमः सर्वांगे।

कर न्यास—ॐ अंगुष्ठाभ्याम् नमः, हिलि तर्जनीभ्यां नमः, हिलि मध्यमाभ्याम् नमः, बन्दी अनामिकाभ्यां नमः, देव्यै कनिष्ठिकाभ्याम् नमः, नमः करतल कर पृष्ठाभ्याम् नमः।

हृदयादि न्यास—ॐ हृदयाय नमः, हिलि शिरसे स्वाहा, हिलि शिखायै वषट्, बन्दी कवचाय हुम् देव्यै नेत्र त्रयाय वौषट्, नमः अस्त्राय फट्।

पूजन—प्रमदा के प्रयोग में दिए गए ढंग से कर ली जाए।

विधि—भोजपत्र पर चन्दन से छः पत्तों वाले कमल की आकृति बनाकर उसके चारों तरफ एक चतुष्कोण बना ले। कमल के छः पत्तों के मूल में बन्दी देवता के हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र और वर्म (छः अंगों) का पूजन हृदयादि न्यास वाले पद बोलकर कर ले। इन पत्रों में आगे की तरफ काली, तारा, कुब्जा, शीतला, त्रिपुरा लक्ष्मी का पूजन कर लेना चाहिए। चतुष्कोण में इन्द्रादि दश दिक्पालों और उनके वज्रादि दश आयुधों का पूजन कर लेना चाहिए।

इस मंत्र के दस हजार जप प्रतिदिन के क्रम से इक्कीस दिन तक करने से बन्दी मुक्त हो जाता है। अनुष्ठान काल में भूमिशयन, ब्रह्मचर्य, हविष्यान्न भोजन का पालन करना पड़ता है।

बन्दी मोक्ष के लिए दूसरा प्रयोग
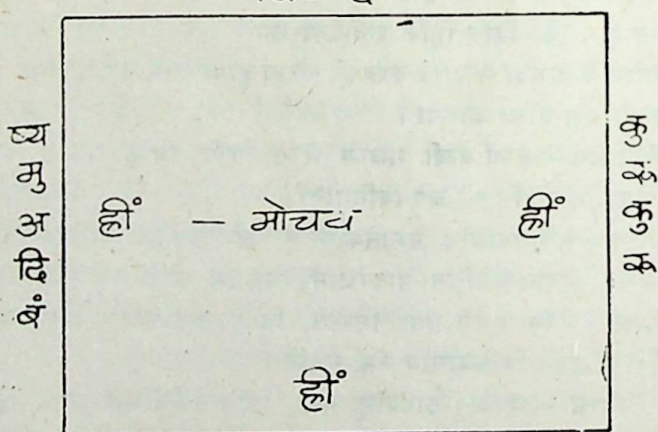
इस यंत्र में जहां खाली स्थान है तथा जहां अमुस्य लिख रखा है वहां उस व्यक्ति का नाम लिखा जाना है जो बन्दी है।

विधि—पूये में घी से उपरिलिखित आकृति और खाली स्थान में बन्दी व्यक्ति का नाम, बांयी तरफ अमुस्य की जगह उस व्यक्ति के नाम के आगे 'स्य' जोड़ कर लिख दे तथा इसमें बन्दी देवता का पूजन करके "ऐं श्रीं ह्रीं वदि—स्य बन्धमोक्षं कुरु-कुरु स्वाहा" इस मंत्र की ग्यारह माला इस पूये को सामने रखकर जप ले फिर जो व्यक्ति कारागृह में है उसे शुद्ध पवित्र करा कर खिला दे यदि एक बार करने से बन्दी की मुक्ति न हो तो ग्यारह दिन तक लगा तार करे।

यह सिद्ध मंत्र है इसके ऋषि आदि नहीं हैं फिर भी बन्दी देवता का और पूर्व में लिखित शक्ति रूपों का और दिक्पालों का पूजन कर लेना चाहिए।

सर्वसुखप्रद विशाला यक्षिणी मंत्र

इस युग में यक्षिणी का प्रयोग अपेक्ष या अधिक सरल व साध्य रहता है। यों विशाला यणिक्षी का प्रयोग नीरोग रहने के लिए किया जाता है किन्तु इसके प्रयोग से घर में सुखशान्ति बनी रहती है।

मंत्र—"ॐ ऐं विशाले ह्रीं श्रीं क्लीं स्वाहा"

विधि – संकल्प करके विनियोग करे।

विनियोग—अस्य श्री विशालायक्षिणी मंत्रस्य विश्रवा ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः विशाला यक्षिणी देवता मम अभीष्ट सिद्धयर्थे जपे विनियोगः।

न्यास—विश्रवा ऋषये नमः शिरसि, अनुष्टुप् छन्द से नमः मुखे विशाला यणिक्षी देवतायै नमः हृदये, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

कर न्यास—ॐ ऐं विशाले अंगुष्ठाभ्यां नमः, ह्रीं तर्जनीभ्याम् नमः, श्रीं मध्यमाभ्याम् नमः, क्लीं अनामिकाभ्यां नमः, स्वाहा कनिष्ठिकाभ्याम् नमः।

हृदयादि न्यास—ॐ ऐं विशाले हृदयाय नमः, ह्रीं शिरसे स्वाहा, श्रीं शिखायै वषट्, क्लीं कवचाय हुम्, स्वाहा अस्त्राय फट्।

भोजपत्र अथवा ताम्रपत्र पर लाल चन्दन से उपर्युक्त आकृति
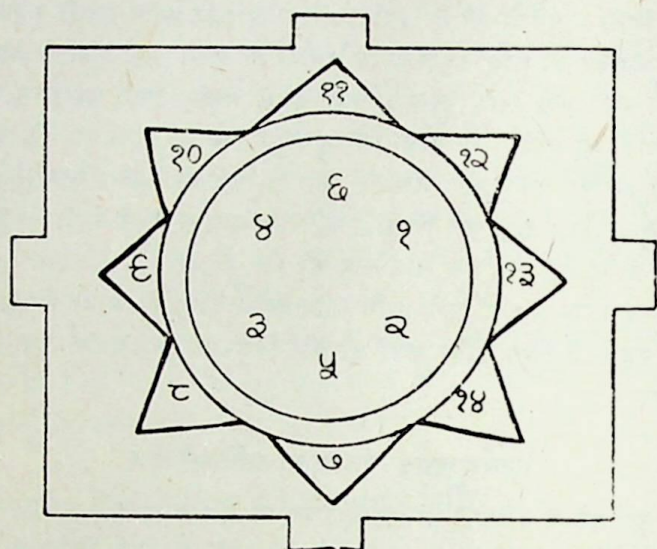
उत्कीर्ण करा ली जाए अथवा लिख ली जाए। इसमें वर्णित अंक लिखने आवश्यक नहीं है यह केवल पूजा क्रम की सुविधा के लिए है।

एक, दो, तीन के अंकों के स्थान पर हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र, अस्त्र के रूप में छः अंगों की स्थापना व पूजा करनी है। पत्रों में जहां सात का अंक है, वहां से क्रमशः सुनन्दायै नमः सुनन्दाम् आवाहयामि, स्थापयामि, आठ वाले अंक पर चन्द्रिकायै नमः चन्द्रिकां आवाहयामि स्थापयामि, नवें अंक में हासायै नमः हासां आवाहयामि स्थापयामि, दस के अंक में सुलापायै नमः सुलापां आवाहयामि स्थापयामि, ग्यारह के अंक में मद विह्वलायै नमः मद विह्वलां आवहयामि स्थापयामि, बारह के अंक में आमोदायै नमः आमोदां आवाहयामि स्थापयामि, तेरह के अंक में प्रमोदायै नमः प्रमोदां आवहयामि स्थापयामि चौदह के अंक में वसुदायै नमः वसुदां आवहयामि स्थापयामि। इस प्रकार आठ पत्रों में आठ शक्तियों का आवाहन, स्थापन पूजन करके चौकोर मंडल में चारों दिशाओं, विदिशाओं और आमने-सामने वाले स्थानों में दिक्पालों का पूजन कर लेना चाहिए। फिर मंत्र का जप।

पवित्र होकर चिंचा वृक्ष के नीचे बैठकर इस मंत्र के एक लाख जप करके पुरश्चरण करे और लाल कमल से दशांश हवन करे। पुरश्चरण सफल होने पर विशाला-यक्षिणी प्रसन्न होकर रस वा रसायन देती है जिससे व्यक्ति नीरोग और दीर्घायु होता है।

देवी के विविध प्रकार के स्वरूपों के ध्यान विभिन्न प्रयोजनों के निमित्त किये जाते हैं। वाणी, रमा, ज्येष्ठा आदि षट्कर्मों की देवियां हैं, इनका ध्यान व यथाशक्ति जप करने की व्यवस्था शास्त्रों ने दे रखी है। यहां कतिपय स्वरूपों का ध्यान दिया जा रहा है।

लक्ष्मी प्राप्ति के लिए

कमल के आसन पर विराजमान, एक हाथ में मातुलिंग और एक हाथ में कमल धारण किये हुए सुन्दर वर्ण वाली लक्ष्मी का ध्यान करे।

टिप्पणी—प्राय: प्रत्येक प्रयोग में सम्बंधित देवता का ध्यान दिया रहता है, वह ध्यान तो करना ही पड़ता है किन्तु जहां ध्यान नहीं दिया गया हो और वह मंत्र लक्ष्मी प्राप्ति के लिए जपा जा रहा हो वहां इस रूप का ध्यान करना पड़ता है। भले ही वह मंत्र किसी भी देवता का हो। यदि ध्यान दिया गया है तो भी प्रारम्भ में इस ध्यान को कर लेना चाहिए। ऐसी ही व्यवस्था आगे भी रहेगी।

ज्ञान प्राति के लिए

सरस्वती मंत्रों में चार भुजा वाली, शुभ्रवर्णा, अमृत की वृष्टि करने वाली, एक हाथ से वरदान मुद्रा, दूसरे में अमृतकलश, तीसरे में पुस्तक और चौथे में अभय मुद्रा धारण कर रही देवी के स्वरूप का ध्यान ब्रह्मरंध्र में करना चाहिए।

आयुष्य और आरोग्य प्राप्ति के लिए

चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण वाली, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए अकार से लेकर क्षकार तक की वर्णमाला रूपिणी शिवा का ध्यान उत्तम रहता है।

वशीकरण—के प्रयोग चाहे मंत्र के हैं या तिलक, अंजन आदि के हैं करने से पहले—

गुलाबी रंगवाली, प्रसन्नवदना, अनेक प्रकार के रत्नाभरणों से सुशोभित अंगों वाली, सृणि और पाश (एक प्रकार के अस्त्र) धारण कर रही देवी का ध्यान करना चाहिए।

वशीकरण का तिलक

लाल चन्दन १ भाग, कपूर १ भाग, कचूर १ भाग, अगर ६ भाग, गौरोचन ४ भाग, सफेद चन्दन १० भाग, केशर ७ भाग, जटामांसी ४ भाग।

इन सारी चीजों को एकत्र करके कृष्ण पक्ष की चर्तुदशी की रात में ग्वार पाठे के रस में पीस कर तिलक तैयार कर ले इस तिलक को तैयार करने से पहले वशीकरण के लिए बताया गया ध्यान कर लेना चाहिए तथा तिलक घिसते समय कोई वशीकरण का मंत्र अथवा 'क्लीं' काम बीज का जप करता रहे।

प्लीहा रोगनाशक हनुमान मंत्र

यों तो इस मंत्र से सभी प्रकार के उदर रोग शान्त होते हैं किन्तु सिद्ध करने पर गुर्दे से सम्बन्धित रोगों की, अत्यंत चमत्कारी ढंग से, चिकित्सा करने की विधि हाथ लग जाती है।

मंत्र है—"ॐ योयो हनुमन्तफलफलित धग्धगित: आयुराषपरुडाह"

सिद्ध करने की विधि

विनयोग—अस्य प्लीहोदररोगनाशान हनुमन्मंत्रस्य श्री रामचन्द्र ऋषि: अनुष्टुप् छन्द: श्री हनुमद्देवता हुम् बीजम् स्वाहा शक्ति: हनुमत्प्रसन्नता प्राप्त्यर्थे जपे विनियोग:।

हनुमान जी का ध्यान—उस मूर्ति का करे जिसमें शक्ति बाण से मूर्च्छित हुए लक्ष्मण के लिए पर्वत शिखर उठाकर चले आ रहे हैं।

पूजन में भगवते आंजनेयाय नम: भगवते रुद्रमूर्तये नम:, भगवते वायुपुत्राय नम:, भगवते अग्निगर्भाय नम:, भगवते रामदूताय नम:, भगवते

ब्रह्मास्त्र निवारणाय नमः इन नामों से पूजन करनी है तथा पूजन से पहले—

न्यास—ॐ आंजनेयाय अंगुष्ठाभ्यां नमः, ॐ रुद्रमूर्तये तर्जनीभ्यां नमः, ॐ वायुपुत्राय मध्यमाभ्यां नमः, ॐ अग्निगर्भाय अनामिकाभ्यां नमः, ॐ रामदूताय कनिष्ठिकाभ्यां नमः, ॐ ब्रह्मास्त्रनिवारणाय करतलकर पृष्ठाभ्यां नमः।

हृदयादि न्यास—ॐ आंजनेयाय हृदयाय नमः, ॐ रुद्रमूर्तये शिरसे स्वाहा, ॐ वायुपुत्राय शिखायै वषट्. ॐ अग्निगर्भाय कवचाय हुम्, ॐ रामदूताय नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ ब्रह्मास्त्र निवारणाय अस्त्राय फट्।

न्यास पूजनादि करके मंत्र का पुरश्चरण करके सिद्ध कर लेना चाहिए। मंत्र सिद्ध हो जाने पर जिस भी किसी व्यक्ति के प्लीहा से सम्बन्धित कोई भी रोग हो उसे लिटा कर उसके पेट पर नागरबेल का पत्ता पेट पर रख दिया जाए। पत्ते पर आठ गुणा (पान के पत्ते से आठ गुणा बड़ा) कपड़ा दो या चार बार तहा कर रख दिया जाए। उस पर भगवान हनुमान का स्मरण करते हुए बांस का टुकड़ा रख दिया जाए जंगली पत्थरों को रगड़ कर जलाई गई आग में बेर की लड़की को तपावे जब लकड़ी गर्म हो जाए तो इस मंत्र का जप करते हुए सात बार इस बांस के टुकड़े पर देर की लकड़ी से हल्के-हल्के मारे।

स्मरण रहे यह प्रयोग करने से पहले हनुमान जी की श्रद्धा भक्ति सहित पूजन कर ले और ऊपर लिखि विधि के अनुसार न्यास व एक माला मंत्र जप कर लिया जाए तो उत्तम रहे।

हनुमान के अन्य मंत्र

विवाद में विजय अथवा शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अगले पृष्ठ पर आकृति के मध्य में खाली स्थान में उस व्यक्ति का नाम लिखना है जिससे विवाद चल रहा है। कमल के आठ पत्तों में "ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ॐ" यह मंत्र लिखा गया है और चारों तरफ माला मंत्र है। यह आवश्यक नहीं कि इस अकृति में जितनी पंक्तियां हैं उतनी ही पंक्तियों में लिखा जाए, इससे कम पंक्तियों, एक में भी लिखा जा सकता है उस समय इसका आकार बड़ा होगा। इसे (अष्टदल कमल को) माला मंत्र

से वेष्टित करके उसके चारों तरफ माया बीज 'ह्रीं' से वेष्टित कर दिया जाए। यह थी इसकी लेखन विधि—
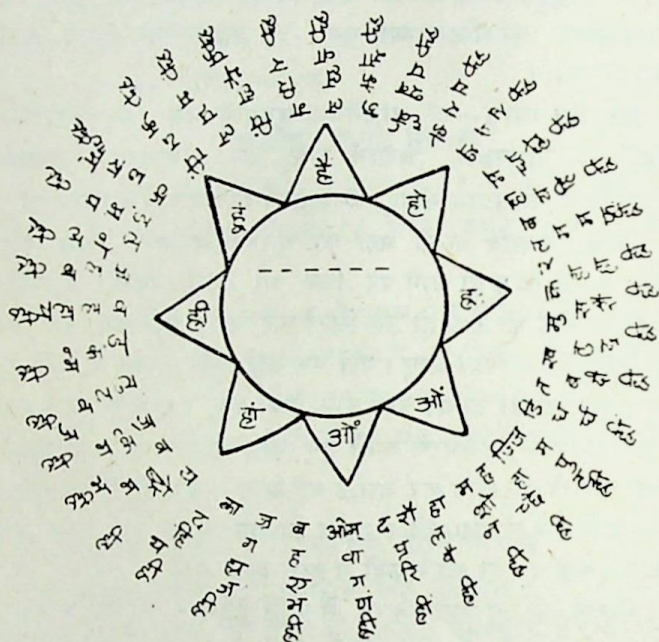
चारों ओर से जिस मंत्र से वेष्टित किया है वह माला मंत्र इस प्रकार है—

ॐ वज्रकाय वज्रतुण्ड कपिल पिंगल ऊर्ध्वकेश महाबल रक्तमख तडिज्जिह्व महारौद्र दंष्ट्रोत्कटक ह ह करालिने महादृढ़ प्रहारिल्लंकेश्वर-वधाय महासेतुबंध महाशैलप्रवाह गगनेचर एह्येहि भगवन्महाबल पराक्रम भैरवाज्ञापय एह्येहि महारौद्र दीर्घ पुच्छेन वेष्टय वैरिणं भंजय-भंजय हुम् फट्।

विधि—इस मंत्र का विनियोग और न्यास इससे पहले लिखे मंत्र के अनुसार ही किये जायेंगे।

भोजपत्र पर गौरोचन और केशर से सोने की कलम से लिखकर प्राण

प्रतिष्ठा करके पूजन आदि से साधित करके पुरश्चरण कर ले। मंत्र बड़ा है इसलिए पांच हजार में ही पुरश्चरण सम्पन्न हो जाएगा। माला मंत्र का जप करने से पहले कमल की पत्तियों में लिखे अष्टाक्षरी मंत्र का जप करना चाहिए। तदनन्तर दशांश हवन करके सिद्ध करके सोने के तावीज में बन्द करके भुजा में बांध लिया जाए।

इस साधित यंत्र को पास में रखने से ग्रहजनित पीड़ा, चोर, सर्प, शत्रु आदि का भय, रोग नाश, घर में सुख-शान्ति, भूत-प्रेतादि का भय शान्त होता है। रण में, विवाद में, जुए में विजय प्राप्त होती है।

रोग दारिद्र्यनाशन सूर्य मंत्र

सूर्य भगवान हमारे ग्रहमंडल के राजा हैं। इनके प्रचंड ताप से तृप्त होकर हम गर्मी में त्राहि-त्राहि कर उठते हैं किन्तु इनका यह तेजस ही हमें ब्रह्माण्डीय किरणों और अल्ट्रावायलेट् रेंज् से बचाता है। जिन लोगों की कुण्डली में सूर्य निर्बल है अर्थात् नीच राशि अथवा शत्रुग्रही होता है उनके लिए गोचर में जब सूर्य उस राशि में आता है तो कष्टों की वृद्धि करता है। वह जिस भाव में रहता है उससे सम्बन्धित विषयों में हानि करता है। वैसे सूर्य आत्म बल का प्रतीक वा कारक होता है किन्तु स्वभाव से इसे पाप ग्रह माना जाता है। सिर में दर्द, राज्य में अवनति, कुष्ठ जैसे रोगों को प्रेरणा करने का आधार बना करता है।

सूर्य के प्रस्तुत प्रयोग में न्यासों की बहुलता है। संभव हो तो ये सारे ही न्यास कर लिए जाए अन्यथा जिनके पहले महत्त्वपूर्ण लिखा गया है उनको तो कर ही लिया जाए। रविवार के दिन अर्घ्य देने से व्यक्ति की आंखों की ज्योति ठीक रहती है तथा नीरोग रहता है।

मंत्र है—"ॐ ह्रीं घृणि: सूर्य आदित्य श्रीं"

विनियोग—अस्त्र श्री सूर्य यंत्रस्य भृगु ऋषि: गायत्री छन्द: दिवाकरो देवता ह्रीं बीजम् श्रीं शक्ति: ममाभीष्टसाधने जपे विनियोग:।

ध्यान—शोणांभोरूह संस्थितं त्रिनयनं वेदत्रयी विग्रहम्,
दानांभोज युगामयानिदधतं हस्तै: प्रवालप्रभम्।

केयूरांगदहारकंकणधरं कर्णोल्लसत्कुण्डलम्,
लोकोत्पत्ति विनाश पालनकरं सूर्यं गुणाब्धि भजे ॥

पहला न्यास—सत्य तेजोज्वालामणे हृदयाय नमः, ब्रह्मतेजोज्वालामणे शिरसे स्वाहा, विष्णुतैजो ज्वालामणे शिखायै वषट्, रुद्रतेजो ज्वालामणे कवचाय हुम्, अग्नितेजो ज्वालामणे नेत्रत्रयाय वौषट्, सर्वतेजो ज्वालामणे अस्त्राय फट् ।

दूसरा न्यास—ह्रीं ॐ हृदयाय नमः, ह्रीं घृं श्रीं शिरसे स्वाहा, ह्रीं णिं श्रीं शिखायै वषट्, ह्रीं, सूं श्रीं कवचाय हुम् ह्रीं यं श्रीं नेत्रत्रयाय वौषट् ह्रीं आं श्रीं अस्त्राय फट् ह्रीं दिं श्रीं उदराय नमः ह्रीं त्यं श्रीं पृष्ठाय नमः पृष्ठे ।

तीसरा न्यास—ॐ लृं आदित्याय नमः मूर्घ्नि, ओम् ऋं खये नमः मुखे, ॐ उम् भानवे नमः हृदये, ॐ इम् भास्कराय नमः लिंगे, ओं अं सूर्याय नमः पादयोः ।

चौथा न्यास—ओम् ह्रीं ओम् श्रीं नमः मूर्घ्नि ओम् ह्रीं घृं श्रीं नमो मुखे, ॐ ह्रीं णिं श्रीं नमोः गले ॐ ह्रीं सूं श्रीं नमो हृदये, ॐ ह्रीं यं श्रीं नमः कुक्षौ, ॐ ह्रीं आं श्रीं नमेः नाभौ, ॐ ह्रीं दिं श्रीं नमः लिंगे, ॐ ह्रीं त्यं श्रीं नमः पादयोः ।

पांचवां ग्रहों का न्यास—अं आं, इं ईं उं ऊं ऋं ॠं आदित्याय भगवते नमः मूलाधारे, लृं, लॄं एं ऐं ओं औं अं अः सोमाय भगवते नमः लिंगे, कं, खं गं घं ङं अंगारकाय भगवते नमः नाभौ, चं छं जं झं ञं बुधाय भगवते नमः हृदये, टं ठं डं ढं णं बृहस्पतये भगवते नमः गले तं थं दं धं नं शुक्राय भगवते नमः मुखे, पं फं बं भं मं शनैश्चराय भगवते नमः भ्रूमध्ये, यं रं लं वं राहवे भगवते नमः भाले, शं षं सं हं केतवे भगवते नमः ब्रह्मरंध्रे ।

ये पांचों न्यास महत्त्वपूर्ण हैं, ये सारे करने में कोई समय नहीं लगता, ये सारे ही कर लेने चाहिएं । विस्तार एवं अन्य न्यासों का विवरण यहां नहीं दिया गया जिससे विधि जटिल न हो जाए । ये अतिआवश्यक न्यास ही हैं और पुरश्चरण करने वाले के लिए ये सारे ही आवश्यक हैं ।

इस मंत्र के दस लाख जप करने से पुरश्चरण होता है । इतनी बड़ी

संख्या देखकर चौंकना या निराश नहीं होना चाहिए। सूर्य देव की महिमा बड़ी प्रबल है। ये हमारे परिमंडल के सम्राट् हैं, विश्वात्मा के चक्षु हैं। संसार में होने वाले परिवर्तनों और विविध जीवों की उत्पत्ति के आधार हैं। सूर्य के सिद्ध हो जाने पर क्या सिद्ध नहीं होता। पुरश्चरण के बाद यथा नियम दशांश हवन करना चाहिए। हवन में पीठ पूजा के समय धर्मादि आठ के स्थान पर प्रभूताय नमः, विमलाय नमः साराय नमः, समाराध्याय नमः इन चारों को चार—आग्नेय, नैऋत्य, वायव्यईशान कोणों में और मध्य में परमसुखाय नमः बोलकर पीठ देवताओं का पूजन करे। मध्य में ही अनन्ताय नमः, पृथिव्यै नमः, क्षीर सागराय नमः रत्नदीपाय नमः, रत्न-मंडपाय नमः, कल्पवृक्षाय नमः, रत्नवेदिकायै नमः, रत्न सिंहासनाय नमः बोलकर अक्षत, गंध, पुष्प से पूजन करे।

फिर पीठ शक्तियों का पूजन करे—रां दीप्तामै नमः, रीं सूक्ष्मायै नमः रूं जयायै नमः रें भद्रायै नमः, रैं विभूत्यै नमः, रों विमलायै नमः, रौं अमोघायै नमः, रं विद्युतायै नमः—इनको पूर्व से प्रारम्भ करके दक्षिण में होते हुए ईशान कोण तक पूजे फिर मध्य में रः सर्वतोमुख्यै नमः इनका पूजत करके सूर्य की स्थापना करे। सूर्य का यंत्र या मूर्ति स्थापित करने के लिए पीठ मंत्र है—

"ॐ ब्रह्म विष्णुशिवात्मकाय सौराय योगपीठात्मने नमः" सूर्य के पूजार्थ बनाए गए मंडल, यंत्र या मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठित करने का मंत्र है "ॐ हृं खं खः खोल्काय नमः" इसी मंत्र से आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, पूर्व (या ऊर्ध्व) पश्चिम (अधः) में हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र व अस्त्र की प्रतिष्ठा करे। फिर ऊपर दिए गए अष्टांग न्यास (चौथे न्यास) वाले मंत्रों से आठों दिशाओं में क्रमशः आठ अंगों का पूजन करे।

तदन्तर मध्य में ॐ लृं आदित्याय नमः, पूर्व में ॐ ॠं रवये नमः, दक्षिण में ॐ उम् भानवे नमः पश्चिम में ॐ इम् भास्कराय नमः, दक्षिण में ॐ अं सूर्याय नमः से पूजन करे।

तत्पश्चात् आग्नेय कोण में उं उषायै नमः, प्रं प्रज्ञायै नमः नैऋत्य कोण में, प्रं प्रभायै नमः वायव्यकोण में, सं संध्यायै नमः ईशान कोण में, पूर्व में ब्रह्मायै नमः, दक्षिण में माहेश्वर्यै नमः, पश्चिम में कौमार्यै नमः, उत्तर में

वैष्णव्यै नमः से शक्तियों का अर्चन करे।

दिशाओं में अन्य ग्रहों की पूजा सों सोमाय नमः, पूर्व में, बुं बुधाय नमः दक्षिण में, गुंगुरवे नमः पश्चिम में शुं शुक्राय नमः उत्तर में, आग्नेय कोण में अं अंगारकाय नमः, नैऋत्य कोण में शं शनैश्चराय नमः, वायव्य कोण में रां राहवे नमः, ईशान कोण में कें केतवे नमः। सोमादि रविपार्षदेभ्यो नमः।

इसके पश्चात् दिक्पालों और उनके अस्त्रों का पूजन करे।

यह पूजन और इन मंत्रों में स्वाहा जोड़कर आहुति देने की व्यवस्था प्रारम्भ के दिन, समापन के दिन एवं हवन के लिए है।

पुरश्चरण जब तक चलता रहे तब तक प्रति रविवार सूर्य को अर्घ्य दिया जाए।

अर्घ्यदान की विधि

तांबे का घड़ा जिसमें दो किलो पानी आ सके, उसे लाल चन्दन से लीप कर मातृका और मूल मंत्र को विलोम पढ़ते हुए जल भरे और मन में यह भावना करे कि सूर्य मण्डल से निकलते हुए अमृतमय जल से यह घट भरा जा रहा है। इस जल में—तिल, चावल, कुशा के अग्रभाग, शाली, श्यामाक (सांवक्या) राई, लाल कनेर के फूल, लाल चन्दन, गौरोचन, केशर, जावत्रि, बांस के जोड़ पर लगने वाले जौ—इन तेरह चीजों को डाल दे। इस कलश में सूर्य भगवान का पूजन करके तीन बार प्राणायाम करे तथा दूसरे क्रम पर लिखा न्यास करे 'बं' इस प्रकार बोलते हुए दाहिने हाथ के ऊपर बांया हाथ रखकर ढांप दे और सूर्य का मंत्र एक सौ आठ बार जपे फिर घुटने धरती पर टिका कर हाथ में वह घड़ा लेकर सिर से ऊपर उठाकर सूर्य को अर्घ्य दे, अर्घ्य का अर्थ उस पानी को सूर्य के अर्पित करना है। यह जल इस प्रकार दिया जाए कि पानी धीरे-धीरे डाला जाए और इस पानी की धार में से छन कर सूर्य की किरणें शरीर पड़ पड़े।

सूर्य मंत्र का पुरश्चरण करके सिद्ध करना एक प्रयोग है और यह प्रयोग करते समय प्रत्येक रविवार को प्रातःकाल अर्घ्यदान करना

आवश्यक है किन्तु जिनके निर्बल सूर्य अशुभ स्थान में पड़ा है वे लोग केवल रविवार के दिन इस अर्घ्यदान का प्रयोग कर सकते हैं।

लक्ष्मी प्राप्ति के लिए कुबेर मंत्र

यह सुविदित है कि कुबेर धनाध्यक्ष है, भगवान शंकर का परम प्रिय सेवक है। लगता है शंकर के केमद्रुम योग है इसलिए दिगंबरता से उनकी आर्थिक स्थिति जानी जाती है। यह तो मां उमा की महिमा है कि वे अन्नपूर्णा के रूप में उनकी सारी व्यवस्था करती हैं। इसके साथ ही एक तथ्य और कि शिव परम भाग्यवान हैं इसलिए धरित्री परिवृद हैं, देवताओं का धनाध्यक्ष उनका आज्ञाचर है। कुबेर का मंत्र इस युग में अनुकूल पड़ने वाला है क्योंकि कुबेर जाति से यक्ष हैं। कुबेर के मंत्र को दक्षिण दिशा में मुख करके साधने की परम्परा शास्त्र सम्मत है।

मंत्र है—"ॐ श्रीं ॐ ह्रीं श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीं क्लीं वित्तेश्वराय नमः"

विनियोग—अस्य श्री कुबेरमंत्रस्य विश्वामित्र ऋषिः बृहती छन्दः शिवमित्र धनेश्वरो देवता ममाभीष्टसिद्धयर्थे जपे विनियोगः।

ध्यान—मनुजवाह्य विमानवरस्थितं,
गरुडरत्ननिभं निधिनायकम् ।।
शिवसखं मुकुटादिविभूषितम्।
वरगदे दधतं भज तुन्दिलम् ।।

न्यास—विश्वामित्र ऋषये नमः शिरसि, बृहती छन्द से नमः मुखे, शिवमित्रधनेश्वर देवतायै नमः हृदये, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

कर न्यास ॐ श्रीं ॐ अंगुष्ठाभ्याम् नमः ह्रीं श्रीं तर्जनीभ्याम् नमः, ह्रीं क्लीं मध्यमाभ्यां नमः, श्रीं क्लीं अनामिकाभ्याम् नमः, वित्तेश्वराय कनिष्ठकाभ्यां नमः, नमः करतलकर पृष्ठाभ्याम् नमः।

हृदयादि षडंग न्यास—ॐ श्रीं ॐ हृदयाय नमः, ह्रीं श्रीं शिरसे स्वाहा, ह्रीं क्लीं शिखायै वषट् श्रीं क्लीं कवचाय हुम् वित्तेश्वराय नेत्रत्रयाय वौषट् नमः अस्त्राय फट्।

एक लक्ष जप से इसका पुरश्चारण पूरा हो जाता है तिलों से दशांश हवन करने से प्रयोग सांग होता है। यह प्रयोग शिव मन्दिर में करना

उत्तम रहता है, बिल्वपत्र के वृक्ष की जड़ में बैठकर करना अधिक उत्तम रहता है।

विविध प्रयोजनों के लिये **आसुरी दुर्गा प्रयोग मंत्र** —"ॐ कटुके कटुकपत्रे, सुभगे आसुरिरक्ते रक्तवासमे अथर्वणस्य दुहिते, अघोरे अघोरकर्मकारिके—स्य गतिं दह दह उपविष्टस्य गुदं दह दह सुप्तस्य मनो दह दह प्रबुद्धस्य हृदयं दह दह हन हन पच पच तावत् दह तावत् पच यावन्मे वशमायाति हुम् फट् स्वाहा"

यह एक सौ दस अक्षर का आसुरी दुर्गा का मंत्र है।

विनियोग—अस्य आसुरी मंत्रस्य अंगिरा ऋषि: विराट् छन्द आसुरी दुर्गा देवता ॐ बीजम् स्वाहा शक्ति: ममाभीष्ट सिद्धयर्थे जपे विनियोग:।

न्यास—अंगिरा ऋषये नम: शिरसि, विराट् छन्द से नम: मुखे आसुरी दुर्गा देवतायै नम: हृदये, ॐ बीजाय नम: गुह्ये, स्वाहा शक्तये नम: पादयो: विनियोगाय नम: सर्वांगे।

षडंग न्यास—ॐ कटुके कटुकपत्रे हुम् फट् स्वाहा हृदयाय नम:, सुभगे आसुरिरक्ते हुम् फट् स्वाहा शिरसे स्वाहा, रक्तवाससे हुम् फट् स्वाहा शिखायै वषट्, अथर्वणस्य दुहिते, हुम् फट् स्वाहा कवचाय हुम्, अघोरे अघोरकर्मकारिके हुम् फट् स्वाहा नेत्र—स्य त्रयाय वौषट् गतिं दह दह उपविष्टस्य गुदं दह दह सुप्तस्य मनो दह दह प्रबुद्धस्य हृदयं दह दह हन हन पच पच तावत् दह तावत्पच यावन्मे वशमायाति हुम् फट् स्वाहा अस्त्राय फट्।

कर न्यास—षडंग के लिए दिए गए मंत्रपदों से कर न्यास कर लेना चाहिए।

ध्यान—शरच्चन्द्रकान्तिर्वराभीतिशूलं,

सृणिं हस्तपद्मै र्दधानांबुजस्था।

विभूषांबराढयादि यज्ञोपवीता।

मुदोथर्वपुत्री करोत्वासुरी न:॥

इसमें मंत्र एवं न्यास में खाली स्थान के बाद—स्य लिखा हुआ है, यहां उस व्यक्ति का नाम लिया जाए जिस पर प्रयोग करना है। यदि स्त्री

पर किया जा रहा है तो स्य के स्थान पर 'या:' उस नाम के आगे जोड़ दिया जाए।

दस हजार जप करने पर पुरश्चरण सम्पन्न होता है। घी में राई का दशांश हवन करने पर प्रयोग सफल होता है। पुरश्चरण करने पर मंत्र सिद्ध हो जाता है फिर राई के पांच अंग फल, फूल, जड़, तना, बकल इनको लाकर एक सौ बार अभिमंत्रित करके इसकी धूप देने से व्यक्ति में सम्मोहन शक्ति आती है। चीनी, घी और शहद में डुबाकर राई की एक हजार आहुति देने से व्यक्ति समाज को वशीभूत करता है।

राई को पीसकर उससे पुतली बनाकर पुरुष पर प्रयोग करना हो तो दाहिने पैर से और स्त्री पर प्रयोग करना हो तो बायें पैर से उसका छेदन करते हुए हवन करना चाहिए। छेदन का क्रम इस प्रकार है—पहले पैर फिर भुजा, फिर सिर फिर दूसरी भुजा, फिर कबंध फिर दूसरा पैर। यह हवन भी राई की लकड़ियों में ही करना होता है।

कडवे तेल और नीम के पत्ते के से मिली राई का हवन शत्रु का नाम लेकर करने से शत्रु ज्वरग्रस्त हो जाता है। इसी प्रकार नामोच्चारणपूर्वक राई और नमक का हवन करने से शत्रु के फोड़े हो जाते हैं।

राई को आक के दूध से युक्त करके होमने से शत्रु अंधा हो जाता है। पलाश की समिधा में राई को घी से होमने से एक सप्ताह में ब्राह्मण को, गुड राई को होम कर क्षत्रिय को, दही राई से वैश्य को और नमक राई को होम कर शूद्र को वश में कर सकता है। पानी भरे घड़े में राई के पत्ते डाल कर इस जल को सौ बार अभिमंत्रित करके जिस भी किसी व्यक्ति को स्नान कराया जाएगा उसकी दरिद्रता, रोग आदि नष्ट हो जाते हैं।

राई के फूल, चन्दन, प्रियंगु, नागकेसर, मैनसिल, नगर इन सब चीजों को चूर्ण करके अभिमंत्रित करके सिर पर डालने से वशीकरण होता है।

निवेदन है कि इससे वशीकरण ही किया जाए दूसरे जो प्रयोग दिये हैं वे केवल ज्ञान के लिये हैं।

राम रक्षा स्तोत्र

कल्याण में सैकड़ों व्याक्तयों ने राम रक्षा स्तोत्र के चमत्कारी प्रभाव का वर्णन छपवाया है। इनके अलावा भी हजारों-लाखों व्यक्ति ऐसे हैं। जिन्होंने इस स्तोत्र के चमत्कारी परिणाम देखे हैं। असल में बीमारी से छुटकारा पाने के लिए और दुष्टों की करतूत से बचने के लिए तथा भूत-बाधा दूर करने के लिए राम रक्षा स्तोत्र का प्रयोग किया जाता है। किसी भी मंत्र को प्रयोग में लाने लायक करने के लिए सिद्ध किया जाता है। फिर भगवान राम दुष्टों के विनाश और सज्जनों के परित्राण के लिए स्वयं अवतरित हुए थे। इसलिए वे अशरण-शरण हैं और आर्तहृदय से पुकारने पर सहायता करते हैं। सबसे बड़ी बात रामोपसना की यह है कि इसमें चूक हो जाने पर भी साधक का कोई अनिष्ट नहीं होता, गुरु के बिना भी इनका प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि श्लोकों का उच्चारण शुद्ध किया जाए। राम रक्षा स्तोत्र आगे दिया जा रहा है।

विधि—आश्विन शुक्ल अथवा चैत्र शुक्ल के नवरात्रों में (प्रतिपदा से नवमी तक) नौ दिन तक प्रतिदिन ग्यारह पाठ राम रक्षा स्तोत्र के करने चाहिएं। समाप्ति के दिन राम रक्षा स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक से हवन करना चाहिए और यथाशक्ति ब्राह्मण भोजन करना चाहिए। प्रातःकाल सूर्य उदय से पहले स्नानादि करके भगवान राम के मन्दिर में अथवा घर के किसी एकान्त कमरे में राम की प्रतिमा या चित्र स्थापित करे उसकी पंचोपचार या षोडशोपचार से पूजन करके भगवन राम के धनुर्धर रूप का ध्यान करना चाहिए। दीपक और अगरबत्ती या धूप पाठ करते समय जलते रहने चाहिए। नौ दिन तक एक समय भोजन करना चाहिए, भोजन सात्विक और हल्का और सुपाच्य हो। उपासना वाले घर में ही धरती पर शयन करना चाहिए और भगवान राम का ध्यान अहर्निश करते रहना चाहिए। नौ दिन के इस प्रयोग से राम रक्षा स्रोत सिद्ध हो जाता है फिर इसका कभी भी प्रयोग किया जा सकता है।

राम रक्षा स्तोत्र (मूल)

चरितं रघुनाथस्य, शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां, महापातकनाशनम् ॥१॥
ध्यात्वा नीलोत्पलश्यायं, रामं राजीवलोचनम् ।
जानकी लक्ष्मणोपेतं, जटामुकुटमण्डितम् ॥२॥
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तंचरान्तकम् ।
स्वलीलया जगत् त्रातुमाविर्भूतमजं विभुम् ॥३॥
रामरक्षां पठेत्प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम् ।
शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः ॥४॥
कौशल्येयः दृशोः पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती ।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रवत्सलः ॥५॥
जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः ।
स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः ॥६॥
करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित् ।
मध्यं पातु खरध्वंशी नाभिम् जाम्बवदाश्रयः ॥७॥
सुग्रीवेशः कटि पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ।
उरू रघूत्तमः पातु रक्षः कुलविनाशकृत् ॥८॥
जानुनी सेतुकृत्पातु जंघे दशमुखान्तकः ।
पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः ॥९॥
एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत् ।
सः चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत् ॥१०॥
पातालभूतलव्योमचारिणः छद्मचारिणः ।
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामाभिः ॥११॥
रामेति राम भद्रेति रामचन्द्रेति वास्मरन् ।
नरो न लिप्यते पापै मुक्ति मुक्ति च विन्दति ॥१२॥

जगत्जैत्रैकमंत्रेण रामनाम्नाभिरक्षितम् ।
यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ।।१३।।

वज्रपंजरनामेदं यो राम कवचं स्मरेत् ।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमंगलम् ।।१४।।

आदिष्टवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः ।
तथा लिखितवान्प्रातः प्रबुद्धो बुध कौशिकः ।।१५।।

आरामः कल्पवृक्षाणाम् विरामः सकलापादाम् ।
अभिरामस्त्रिलोकानाम् रामः श्रीमान्सनः प्रभुः ।।१६।।

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।।१७।।

फलमूलासनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातारौ रामलक्ष्मणौ ।।१८।।

शरण्यौ सर्वसत्वानाम् श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम् ।
रक्षः कुल निहन्तारौ त्रायताम् नौ रघूत्तमौ ।।१९।।

आत्तसज्जधनुषा विपुस्पृशा वक्षयाशुगनिषंगसंगिनौ ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम् ।।२०।।

सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा ।
गच्छन्ममोरथान्नश्च रामः पातु सलक्ष्मण ।।२१।।

रामो दाशरथि शूरो लक्ष्मणानुचरो बली ।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौशल्येयो रघूत्तमः ।।२२।।

वेदान्त वेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः ।
जानकीवल्लभः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः ।।२३।।

इत्येतानि जपन्नित्यम् मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ।
अश्वमेधाधिकं पुण्यं सम्प्राप्नोति न संशय ।।२४।।

रामं दूर्वादलश्यामं पद्माक्षं पीतवाससम् ।
स्तुवान्ति नामभिर्दिव्यैः न ते संसारिणो नराः ।।२५।।

रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापति सुन्दरम्,
काकुत्स्थं करुणार्णवम् गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम्।
राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्तिम्,
बन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवम् रावणारिम् ।।२६।।

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ।।२७।।

श्री राम राम रघुनन्दन राम राम।
श्री राम राम भरताग्रज राम राम।
श्री राम राम रणकर्कश राम राम,
श्री राम राम शरण भव राम राम ।।२८।।

श्री रामचन्द्र चरणौ मनसा स्मरामि,
श्री रामचन्द्र चरणौ वचसा गृणामि।
श्री रामचन्द्र चरणौ शिरसा नमामि,
श्री रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये ।।२९।।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः,
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुः,
नान्यं जाने नैव जाने न जाने ।।३०।।

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ।।३१।।

लोकाभिरामं रणरंग धीरम्,
राजीव नेत्रं रघुवंशनाथम्।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तम्,
श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये ।।३२।।

मनोजवं मारुत तुल्य वेगं,
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठाम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं,
श्री रामदूतं शरणं प्रपद्ये ।।३३।।

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविता शाखाम् वन्दे वाल्मीकि कोकिलम्॥३४॥

आपदामपहर्तारम् दातारम् सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्री रामू भूयो भूयो नमाम्यहम्॥३५॥

भर्जनं भवबीजानाम् अर्जनम् सुखसम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतनाम् राम रामेति गर्जनम्॥३६॥

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे,
रामेणाभिहता निशाचरचमूः रामाय तस्मै नमः।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोस्म्यहम्,
रामे चित्त लयः सदा भवतु मे भो राम ! मामुद्धर॥३७॥

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरथे।
सहस्रनामतत्तुल्यं रामनाम वरानने॥३८॥

॥ इति राम रक्षा स्तोत्रम् ॥

गजेन्द्रमोक्ष

जब कोई व्यक्ति कर्जे से दब जाए, कारागार में डाल दिया जाए अथवा कोई ऐसी उलझन आ जाए जिससे उबरने का कोई रास्ता ही न दीखे उस समय गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र का प्रयोग अमोघ और अचूक रहता है। जिस समय ग्राह द्वारा पकड़ लिए जाने पर हाथी ने अशरण होकर भगवान को पुकारा था और भगवान नंगे पांव दौड़कर आये थे वही स्थिति इसके प्रयोग करने पर होती है अर्थात् आर्त भाव से पुकारने पर दैवी सहायता निश्चित रूप से मिलती है। नवरात्रों में अथवा किसी शुभ मुहूर्त में इस स्तोत्र का पाठ प्रारम्भ करके नौ या ग्यारह दिन तक करना चाहिए।

विधि—बाजार से कोई मूर्ति अथवा चित्र, जिसमें हाथी को मगर से छुड़ा रहे भगवान विष्णु का रूप हो, लाकर उसके समक्ष प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर बैठ जाना चाहिए। आसन ऊन अथवा कुशा

का हो। गणपति का स्मरण करके भगवान शेषशायी विष्णु का ध्यान करे—

'शान्ताकारं भुजंगशयनम् पद्मनाभं सुरेशम्,
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघदृर्ण शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिध्यानिगम्यम्,
वन्दे विष्णुं भवभय हरं सर्व लोकैकनाथम् ॥'

पंचोपचार या षोडशोपचार से पूजन करके श्रद्धा भक्तिपूर्वक प्रणाम करे और पहले 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मंत्र की एक माला फेर ले। नवरात्रों में सिद्ध करने के पश्चात् यदि सुविधा हो सके तो इस प्रयोग को नित्य किया जाए। समाप्ति के दिन थोड़ा-बहुत हवन और ब्राह्मण भोजन कर दिया जाए तो अति उत्तम रहे। एक बार सिद्ध कर लेने पर इस स्तोत्र को कभी भी काम में लिया जा सकता है। पाठ करने में भी पांच-सात मिनट ही लगते हैं इसलिए नित्य भी किया जा सकता है।

गजेन्द्रमोक्ष (मूल)

श्री शुक उवाच—

एवं व्यवसितो बुद्धया समाधाय मनो हृदि।
जजाप परमं जाप्यं प्राग् जन्मन्यनुशिक्षितम्॥

गजेन्द्र उवाच—

नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥
यस्मिन्निदम् यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
यो स्मात्परस्माच्च परः तं प्रपद्ये स्वयंभुवं॥

यः स्वात्मनीदं निज माययार्पितम्,
क्वचिद्विभातं क्व च तत्तिरोहितम्।

अविद्धदृक् साक्ष्यभयं तदीक्षते,
स आत्ममूलोवतु मां परात्परः ।।

कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो,
लोकेषु पालेषु च सर्व हेतुषु ।
तमस्तदासीद्‌ग्हनम् गभीरम्,
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ।।

न यस्य देवाः ऋषयः पदं विदुः,
जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृत्तिभिर्विचेष्टतो,
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ।।

दिदृक्षवो यस्य पदम् सुमंगलम्,
विमुक्तसंगाः मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणम् वने,
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ।।

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा,
न नामरूपे गुण दोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसंभावाय यः,
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ।।

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्त शक्तये ।
अरूपायोरू रूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ।।

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चतसा मपि ।।

सत्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चित ।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ।।

नमः शान्ताय घोराय, मूढाय गुणधर्मिणे ।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ।।

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे ।
पुरुषायात्ममूलाय मूलंप्रकृतये नमः ।।

सर्वेन्द्रियंगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ।।

नमो नमस्तेऽखिल कारणाय,
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नाय महार्णवाय,
नमोऽपवर्गाय परायणाय ।।

गुणारणिच्छन्न चिदूष्मपाय,
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यं भावेन विवर्जितागम्,
स्वयं प्रकाशाय नमस्करोमि ।।

मादृक् प्रपन्न पशुपाशविमोक्षणाय,
मुक्ताय भूरि करुणाय नमो लयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत,
प्रत्यग् दृशे भगवते बृहते नमस्ते ।।

आत्मात्मतमजाप्त गृह वित्त जनेषु सक्तैः
दुष्प्रापणाय गुणसंगविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय,
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ।।

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामाः,
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किंत्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययम्,
करोतु मेदभ्रदयो विमोक्षणम् ।।

एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थम,
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्ना: ।
अत्यद्भुतम् त्वच्चरितम् सुमंगलम्,
गायन्त आनन्द समुद्रमग्ना: ।।

तमक्षरम् ब्रह्म परम् परेशम्,
अव्यक्तमाध्यात्मिक योगगम्यम् ।
अतीन्द्रियम् सूक्ष्ममिवातिगूढम्,
अनन्त मादयम् परिपूर्णमीडे ।।

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा: लोकाश्चराचरा: ।
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृता: ।।

यथार्चिषोऽग्ने: सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिष: ।
तथा यतोऽयम् गुण सम्प्रवाहो,
बुद्धिर्मन: खानि शरीर सर्गा: ।।

स वै न देवासुरमर्त्यतीर्यक्,
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तु: ।
नायम् गुण: कर्म न सन्नचासन्,
निषेधशेषो जयतादशेष: ।।

जिजीविषे नाहमिहामुया किम्
अन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव:,
तस्यात्म लोकावरणस्य मोक्षम् ।।

सोऽहम् विश्वसृजम् विश्वविश्वम् विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ।।

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ।।

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग—
शक्ति त्रायायाखिल धी गूणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्त शक्तये,
कदिन्द्रियाणामनवाप्य वर्त्मने ।।

नायं वेद स्वमात्मानम् यच्छयक्त्याहंधिया हतम् ।
तं दुरत्ययमाहात्म्यम् भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ।।

श्री शुक उवाच—

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषम्,
ब्रह्मादयो विविधलिंगभिदाभिमानाः ।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्,
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ।।

तंतद्वदार्तमुपलभ्य जगन्निवासः,
स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्ययानः,
चक्रायुधोभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ।।

सोऽन्तः सरस्युरु जलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।।

उत्क्षिप्यसाम्बुज करं गिरमाह कृच्छ्रात्,
नारायणाखिल गुरो भगवन्नमस्ते ।।

तं वीक्ष्य पीड़ितमजः सहसावतीर्य,
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।।

ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रम्,
संपश्यताम् हरिरमूमुचन्द्रस्त्रियाणाम् ।।

।। इति गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्रम् ।।

त्रिपुरा महिम्न स्तोत्र

यह महिम्न स्तोत्र त्रिपुर सुन्दरी का है और देशिकेन्द्र दुर्वासा द्वारा रचित है। तंत्र में देशिक बहुत बड़ा पद है और दुर्वासा ख्यातनामा ऋषि। इस स्तोत्र के पढ़ने से जो लाभ होते हैं वे अन्त में वर्णित हैं।

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोकी महा-
सौन्दर्यार्णवमंथनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम् ।
उदयद्भानुसहस्रनूतन जपापुष्पप्रभं ते वपुः,
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्

आदिक्षान्त समस्तवर्णसुमीण प्रोते वितानप्रभे,
ब्रह्मादि प्रतिमाभिकीलितषडाधाराब्जकक्षोन्नते।
ब्रह्माण्डाब्जमहासने जननि ते मूर्ति भजे चिन्मयीम्,
सौषुम्णायत पीत पंकजमहामध्यत्रिकोण स्थिताम् ।।

वन्दे वाग्भवमैन्दवात्मसदृशं वेदादिविद्या गिरो,
भाषा देशसमुद्भवाः पशुगताश्छन्दांसि सप्त स्वरान्।
तालान्पंचमहाध्वनीन् प्रकटयत्यात्म प्रसारेण यत्
तद्बीजं पदवाक्य मानजनकं श्री मातृके ते परम् ।।

त्रैलोक्यस्फुट मंत्रतंत्र महिमां नाप्नोति शश्वद्विना,
यद् बीजं व्यवहार जालमखिलं नास्त्येव मातस्तव।
तज्जाप्य स्मरण प्रसक्त सुमतिः सर्वज्ञतां प्राप्य कः,
शब्द ब्रह्मनिवासभूत वदनो नेन्द्रादिभिः स्पर्द्धते ।।

मात्रा यत्र विराजतेऽतिविशदा तामष्टधा मातृकाम्,
शक्ति कुण्डलिनीं चतुर्विधतनुं यस्तत्त्वविन्मन्यते।
सोऽविद्याखिल जन्मकर्मदुरितारण्यं प्रबोधाग्निना,
भस्मीकृत्य विकल्पजालं मखिलं मातः पदं तद् व्रजेत् ।।

तत्ते मध्यम बीजमम्ब कलयाम्यादित्यवर्णं क्रिया-
ज्ञानेच्छादिसमस्त शकित विभवव्यक्ति व्यनक्ति स्फुटम्।

उत्पत्ति स्थितिकल्प कल्पिततनु स्वात्म प्रसारेण यत्,
काम्यं ब्रह्महरीश्वरादिबिबुधैः कामं क्रियायोजितैः ।।
कामान्कारणतांगतानगणितान्कार्यैरनन्तैर्मही,
मुख्यैः सर्वमनोगतानधिगतान्मानैरनेकैः स्फुटम् ।
कामक्रोधसुलोभ मोहमद मात्सर्यारि षट्कं च यत्,
बीजं आजयति प्रणौमि तदहं ते साधु कामेश्वरि ।।
यद् भक्तयाखिल काम पूरण चणस्वात्म प्रभावं महा,
जाडयध्वान्त निवारणैकतरणिर्ज्योतिः प्रबोधप्रदम् ।
यद् वेदेषु च गीयते श्रुतिमुखं मात्रात्रयेणोमिति,
श्री विदये तव सर्वराजवश कृत्तत्कामराजं भजे ।।
यत्ते देवि तृतीयबीजमनलज्वालावलीसन्निभम्,
सर्वाधारतुरीय बीज मपरं ब्रह्मभिधाशब्दितम् ।
मूर्धन्यान्तविसर्गभूषित महौकारात्मकं तत्परम्,
संविद रूपमनन्य तुल्य महिम स्वान्ते मम द्योतताम् ।।
सर्वं सर्वत एव सर्गसमये कार्येन्द्रियाण्यन्तरा,
तत्तत् दिव्य हृषीक कर्मभिरियं संख्यानुवाना परा ।
वागर्थ व्यवहार कारणतनुः शक्तिर्जगद् व्यापिनी,
यद्बीजात्मकतां गता तव शिवे तन्नौमि बीजं परम् ।।
अग्नीन्दुद्युमणि प्रभंजन धरानीरान्तर स्थायिनी
शक्ति र्ब्रह्म हरीश वासवमुखामर्त्यासुरात्मस्थिता ।
सृष्ट स्थावरजंगम स्थित महाचैतन्य रूपा च या,
यद् बीज स्मरणेन सैव भवती प्रादुर्भवत्यंबिके ।।
स्वात्मश्रीविजिताजविष्णुमघवश्री पूरणैक व्रतं,
यद् विद्याकविता वितान लहरी कल्लोलिनीदीपकम् ।
बीजं यन्त्रिगुणप्रवृत्तिजनकं ब्रह्मेति यद् योगिनः,
शान्ताः सत्वमुपासते तदिह ते चित्ते दधे श्रीपरे ।।
एकैकं तव मातृके परतरं संयोगि वा योगि वा,
विद्यादि प्रकट प्रभावजनकं जाडयांधकारा पहम् ।

यन्निष्ठाश्च महोत्पलासन महाविष्णुप्रहत्रदियो,
देवाः स्वेषु विधिष्वनन्य महिमस्फूर्ति दधत्येव तत् ॥

इत्थं त्रीण्यपि मूलवाग्भव महाश्री कामराज स्फुरत्
शक्तयाख्यानि चतुः श्रुतिप्रकटितान्युत्कृष्टकूटानि ते ।
भूतर्तुश्रुतिसंख्य वर्ण विदितान्यारक्तकान्ते शिवे,
यो जानाति स एव सर्वजगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकृत् ॥

नित्यं यस्तव मातृकाक्षर सखीं सौभाग्यविद्यां जपेत्,
सम्पूज्याखिल चक्रराजनिलयां सायन्तनाग्निप्रभाम् ।
कामाख्यं शिवनामतत्त्वमुभयं व्याप्यात्मनासर्वतो
दीव्यन्तीमिह तस्य सिद्धिरचिरात्स्यात्त्वत्स्वरूपैकता ॥

काव्यैः पापठितैः किमप्यविदुषां जो घुष्यमाणैः पुनः,
किं तैर्व्याकरणैः बित्रीधिततया किं वाभिधानश्रिया ।
एतैरम्ब न बोभवीति सुकविस्तावत्तव श्रीमतो
यविन्नानुसरी सरीति सरणिं पादाब्जयोः पावनीम् ॥

गेहं नाकति गर्वितः प्रणमति स्मीसंगमो मोक्षति,
द्वेषी मित्रति पातकं सुकृतति क्ष्मावल्लभो दासति ।
मृत्युर्वैद्यति दूषणं सुगुणति त्वत्पाद संसेवनात्,
त्वां वन्दे भवभीतिभंजनकरीं गौरीं गिरीशप्रियाम् ।

आद्यैरग्निरवीन्दुबिम्बनिलयैरम्ब त्रिलिंगात्मभिः
मिश्रा रक्तसित प्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः ।
स्वात्मोत्पादित काल लोकनिगमावस्थामरादित्रेये
रुद्भूतं त्रिपुरेति नाम कलयेह यस्ते स धन्यो बुद्धः ॥

आदयो जाप्यतमार्थ वाचकतया रूढः स्वरः पंचमः
सर्वोत्कृष्ट तमार्थ वाचकतया वर्णः पवर्गान्तकः ।
वक्तृत्वेन महाविभूतिसरणिस्त्वाधारगो हृद्गतो
भ्रूमध्यस्थित इत्यतः प्रणवता ते गीयतेऽम्बागमैः ॥

गायत्री सशिरा तुरीयसहिता सन्ध्यामयी त्यागमैः
आख्याता त्रिपुरे त्वमेव महतां शर्मप्रदा कर्मणाम् ।

तत्तद् दर्शनमुख्यशक्तिरपि च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरि
कर्तार्हन्पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धःशिवस्त्वं गुरुः ॥
अन्नंप्राणमनः प्रबोधपरमानन्दैः शिरः पक्षयुक्,
पुच्छात्मप्रकटैर्महोपनिषदां वाग्भिः प्रसिद्धीकृतैः ।
कोशैः पंचभि रेभिरंब भवतीमेतत्प्रलीनामिति,
ज्योतिः प्रज्वलदुज्ज्वलात्मचपलां यो वेद स ब्रह्मवित् ॥
सच्चित्तत्त्वमशीति वाक्य विदितैराध्यात्मविद्याशिव
ब्रह्माख्यैरतुलप्रभाव सहितै स्तत्त्वैः त्रिभिः सद्गुरोः ।
तद्रूपस्य मुखारविन्दविवरात्सं प्राप्य दीक्षामतो,
यस्त्वां विन्दति तत्त्वतस्तदहमित्यार्ये स मुक्तो भवेत् ॥
सिद्धान्तैर्बहुभिः प्रमाणगणितैरन्यैरविद्यातमो,
नक्षत्रैरिव सर्वमन्धतमसं तावन्न संभिद्यते ।
यावत्ते सवितेव सम्मतमिदं नोदेति विश्वान्तरे,
जन्तोर्जन्म विमोचनैक भिदुरं श्रीशांभवं श्रीशिवे ॥
आत्मसौ सकलेन्द्रियाश्रय मनोबुद्धयादिभिः शोचितः,
कर्माबद्धतनुर्जनिं च मरणं प्राप्नोति यत्कारणम् ।
तत्ते देवि महाविलास लहरीदिव्यायुधानां जय-
स्तस्मात् सद्गुरुमभ्युपेत्य कलयेत्त्वामेव चेन्मुच्यते ॥
नानायोनि सहस्रसंभवशाज्जाताः जनन्यः कति,
प्रख्याताः जनकाः कियन्त इति मे सेत्स्यन्ति चाग्रे कति ।
एतेषां गणनैव नास्ति महतः संसारसिंधोर्विधे,
भीतं मां नितरामनन्यशरणं रक्षानुकम्पानिधे ॥
देहक्षोभ करैर्व्रतैर्बहुविधैर्दानैश्च होमैर्जपैः,
सध्यानैर्हयमेधमुख्यसुमखैर्नानाविधैः कर्मभिः ।
यत्संकल्प विकल्पजालमलिन प्राप्यं पदं तस्य ते,
दूरादेव निवर्तते परतरं मातः पदं निर्मलम् ॥
पंचाशन्निजदेहजाक्षर मयैर्नानाविधैः धातुभिः,
ब्रह्वर्थैः पदवाक्य मानजनकैरर्थाविना भावितैः ।

साभिप्रायवदर्थ कर्म फलदैः स्यातैरनन्तैरिदम्,
विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृंभसे मातृके ।।
श्री चक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकं,
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षर शिवज्योतिर्मयं सर्वतः ।
एतन्मंत्रमयात्मिकाभिररुणं श्री सुन्दीभिर्वृतम्,
मध्ये बैंदवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे ।।
बिन्दु प्राणविसर्गजीव सहितं बिन्दुत्रिबीजात्मकम्,
षट्कूटानि विपर्ययेण निगदेत्तारात्रिबालाक्षरैः ।
एभिः सम्पुटितं प्रजप्य विहरेत्प्रासाद मंत्रं परम्,
गुह्याद्गुह्यतमं सयोगजनितं सद्भोगमोक्षप्रदम् ।।
आताम्रार्क सहस्रदीप्तिपरमा सौन्दर्य सारैरलम्,
लोकातीतमहोदयैरूपयुता सर्वोपमागोचरैः ।
नानानर्घ्यविभूषणै रगणितै जीज्ज्वल्यमानाभितः,
श्रीमातस्त्रिपुरारिसुन्दरि कुरु स्वान्ते निवासं मम ।।
शिंजन्नूपुरपादकंकणमहामुद्रा सुलाक्षारसा,
लंकारांकितमंघ्रिपंकज युगं श्रीपादुकालं कृतम् ।
उद्भास्वन्न खचन्द्रखण्डरुचिरं राजज्जपासन्निभं,
ब्रह्मादि त्रिदशासुरार्चितमहं मूर्ध्न स्मराम्यम्बिके ।।
आरक्त च्छविनातिमार्दव युजा निश्श्वासहार्येण सत्,
कौशेयेन विचित्र रत्नखचितैर्मुक्ताफलैरुज्ज्वलैः ।
कूजत्कांचनकिंकिणीभितः सन्नद्ध कांचीगुणैः,
आदीप्तं सुनितंबबिम्बमरुणं ते पूजयाम्यम्बिके ।।
कस्तूरी घनसारकुंकुमरजोगंधोत्कटैश्चन्दनै,
रालिप्तं मणिमालयातिरुचिरं ग्रैवेयहारादिभिः ।
दीप्तं दिव्यविभूषणैर्जननि ते ज्योतिर्विभास्वत्कुच,
व्याजस्वर्णघटद्वयं हरिहरब्रह्मादिपीतं भजे ।।
मुक्तारत्न विचित्रकान्तिललितैस्ते बाहुवल्लीरहं,
केयूरांगदबाहुदण्डबलयैर्हस्तांस्गुलीभूषणैः ।

संपृक्ताः कलयामि हरिमणिमन्मुक्तावलीकीतिल,
ग्रीवापट्टविभूषणेन सुभगं कण्ठं च कम्बुश्रियम् ॥
उद्यत्पूर्णकलानिधिश्रिवदनं भक्तप्रसन्नं सदा,
सम्फुल्लाम्बुजपत्रकान्तिसुपमाधिक्कारदक्षेक्षणम् ।
सानन्दं कृतमन्दहासमसकृत्प्रादुर्भवत्कौतुकम्,
कुन्दाकारसुदन्तपंक्तिशशिभापूर्णं स्मराम्यम्बिके ॥
तप्तस्वर्णकृतोरुकुण्डलयुगं माणिक्यमुक्तोल्लसत्,
हीराबद्धमनन्यतुल्यमपरं हैमं च चक्रद्वयम् ।
शुक्राकारनिकारदक्षममलं मुक्ताफलं सुन्दरम्,
बिभ्रत्कर्णयुगं भजामि ललितं नासाप्रभागंशिवे ॥
श्रृंगारादिरसालयं त्रिभुवनीमाल्यैरतुल्यैर्युतम्,
सर्वांगीणसदंगरागसुरभि श्रीमद्वपुर्धूपितम् ।
ताम्बूलारुणपल्लवाधरयुतं रम्यं त्रिपुण्ड्रं दधत्,
भालं नन्दनचन्दनेन जननि ध्यायामि ते मंगलम् ॥
जातीचम्पककुन्दकेशररजो गंधोत्किरत्केतकी,
नीपाशोकशिरीषमुख्यकुसुमैः प्रोत्तंसिता भूषिता ।
आनीतमांजनतुल्यमत्तमधुपश्रेणीव वेदी तव,
श्रीमताः श्रयतां दीयहृदयांभोजं सरोजालये ॥
लेखालभ्यविचित्ररत्नघटितं हैमं किरीटोत्तमम्,
मुक्ताकांचन किंकिणीगण महाहीरप्रबंधोज्ज्वलम् ।
चंचच्चन्द्रकलाकलापललितं देवद्रुपुष्पार्चितम्,
माल्यैरम्ब विलम्बितं सुशिखरं बिभ्रच्छिरस्ते भजे ॥
उत्क्षिप्तोच्चसुवर्णदण्ड कलितं पूर्णेन्दुबिम्बाकृति,
च्छत्रं मौक्तिक चित्ररत्नखचितं क्षौमांशुकोत्तंसितम् ।
मुक्ताजालविलम्बितं सकलशं नानाप्रसूनांकितम्,
चन्द्रोड्डामरचाभराणि दधते श्री देवि ते स्वः स्त्रियः ॥
विद्यामंत्ररहस्यविन्मुनिगणैः क्लृप्तोपचारार्चना,
वेदादिस्तुतिगीयमानचरितां वेदान्ततत्वामिकाम् ।

सर्वास्ताः खलु तुर्यतामुपगतास्त्वद्रश्मिदेव्यः परा-
स्त्वां नित्यं समुपासते स्वविभवैः श्रीचक्रनाथे शिवे ।।

एवं यः स्मरति प्रबुद्धसुमतिः श्रीमत्स्वरूपं परम्,
वृद्धोप्याशु युवा भवत्यनुपमः स्त्रीणामनंगायते ।
सो ष्टैश्वर्यतिरस्कृताखिलसुर श्री जृम्भणैकालयः,
पृथ्वीपाल किरीटकोटीवलभी पुष्पांचिताघ्रिर्भवेत् ।।

अथ तव धनुः पुण्ड्रेक्षुत्वात्प्रसिद्धमतिदयुति,
त्रिभुवनवधूमुद्यज्ज्योत्स्नाकलानिधिमण्डलम् ।
सकलजननि स्मारं स्मारं गतः स्मरतां नरः,
त्रिभुवनवधूमोहांभोधेः प्रपूर्णविधुर्भवेत् ।।

प्रसूनशरपंचकप्रकटजृंभणागुंफित,
त्रिलोकमवलोकयत्यमलचेतसा चंचलम् ।
अशेषरमणीजन स्मरविजृंभणे यः सदा,
पटुर्भवति ते शिवे त्रिजादंगनाक्षोभणे ।।

पाशं प्रपूरितमहासुमतिप्रकाशो,
यो वा तव त्रिपुरसुन्दरि सुन्दरीणाम् ।
आकर्षणेऽखिलवशीकरणे प्रवीणम्,
चित्ते दधासि स जगत्त्रयवश्यकृत्स्यात् ।।

यः स्वान्ते कलयति कोविदस्त्रिलोक,
स्तंभारंभचणमत्युदारवीर्यम् ।
मातस्ते विजयमहांकुशं सरोषान्,
देवान्स्तंभयाति च भूभुजोन्यसैन्यम् ।।

चापध्यानवद्भवोद्भवमहामोहस्य व्युजृंभणम्,
प्रख्यातं प्रसवेषु चिन्तनवशात्तत्तशाख्यं सुधीः ।
पाशध्यानवशात्समस्तजगतां मृत्योर्वशत्वं महा-
दुर्गस्तंभ महांकुशस्यमननान्मायाममेयां तरेत् ।।

न्यासं कृत्वा गणेशग्रहभगणमहायोगिनी राशिपीठैः
पंचाशन्मातृकार्णैः सहित बहुकलैरष्टवाग्देवताभिः ।

सश्रीकण्ठादि युग्मैर्निजविमलतनौ केशवाद्यैश्च तत्त्वैः,
षट्त्रिंशद्भिर्धराद्यैर्भगवति भवतीं यः स्मरेत्स त्वमेव ।।

सुरपतिपुरलक्ष्मीजृंभणातीत लक्ष्मीः,
प्रसरति निजगेहे यस्य दैवं त्वमार्ये ।
विविधबहुकलानां पात्रभूतस्य तस्य,
त्रिभुवन विदिता सा जृंभते स्फूर्तिरिच्छा ।।

मायर्भूर्भुवः स्वः महरसि नृतपः सत्यलोकैश्च सूर्ये-
न्द्वारज्ञाचार्यशुक्रार्किभिरपि निगमब्रह्मभिः प्रोतशक्तिः ।
प्राणायामादियानैः कलयसि सकलं मानसं ध्यानयोगं,
योषं तेषां सपर्या भवति सुरकृता ब्रह्मता योगिता च ।।

क्व मे बुद्धिर्वाचा परमविदुषो मन्दसरणिः,
क्वते मातर्ब्रह्मप्रमुख विदुषामाप्तवचसाम् ।
अभून्मे विस्फूर्तिः परतरमहिम्नस्तव नुतिः,
प्रसीद क्षन्तव्यं बहुलतरचापल्यमिह मे ।।

प्रसीद परदेवते मम हृदि प्रभूतं भयम्,
विदारय दरिद्रतां दलय देहि सर्वज्ञताम् ।
विधेहि करुणानिधे चरणपद्मयुग्मं स्वकं,
निवारय जरामृती त्रिपुरसुन्दरि श्री शिवे ।।

इति त्रिपुरसुन्दरी स्तुतिमिमां पठेद् यः सुधीः,
स सर्वदुरिताटवीपटलचण्डदावानलः ।
भवेन्मनसि वाञ्छित प्रथितसिद्धिवृद्धिर्भवेत्,
अनेकविध सम्पदां पदमनन्यतुल्यो भवेत् ।।

संगीतं गिरिजे कवित्वसरणि चाम्नायवाक्यस्मृतिः,
व्याख्यानं हृदि तावकीन चरणद्वन्द्वं च सर्वज्ञताम् ।
श्रद्धां कर्मणि कालिकेतिविपुलश्रीजृंभणं मन्दिरे,
सौन्दर्यं वपुषि प्रकाशमतुलं प्राप्नोति विद्वान्कविः ।।

पृथ्वीपालप्रकट मुकुटस्त्रग्रराजौरंजितांघ्रिः,
विद्वत्पूजास्तुतिशतसमाराधितो बाधितारिः ।

विद्याः सर्वाः कलयति हृदा व्याकरोति प्रवाचा ।
लोकाश्चर्यैर्नवनवपदैरिन्दु बिम्बप्रकाशैः ।।

भूष्यं वैदुष्यमुदयद्दिनकर किरणाकार माकार तेजः,
सुव्यक्तं भक्ति मार्ग निगमनिगदितं दुर्गमं योगमार्गम्,
आयुष्यं ब्रह्मपोष्यं हरगिरिविशदां कीर्तिमभ्येत्य भूमौ,
देहान्ते ब्रह्मपारं परशिव चरणाकार मभ्योति विद्वान् ।।

दुर्वाससा विदित तत्त्वमुनीश्वरेण,
विद्याकलायुवति मन्मथमूर्तिनैतत् ।
स्तोत्र व्याधायि रुचिरं त्रिपुराम्बिकायाः,
वेदागमैकपटली विदितैकमूर्तेः ।।

सदसदनुग्रह निग्रह गृहीत मुनिविग्रहो भगवान् ।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ।।

।। इति देशिकेन्द्र दुर्वासा विरचित त्रिपुर सुन्दरी महिम्नः स्तोत्रं ।।

कविकुल गुरु कालिदास रचित पंचस्तवी

ऐन्द्रस्येव शरासनस्य दधती मध्ये ललाटप्रभाम्,
शौक्लीं कान्ति मनुष्णगौरिव शिरस्यातन्वती सर्वतः ।
एषासौ त्रिपुरा हृदि दयुतिरिवोष्णांशोस्सदाह स्थिता,
छिन्दयान्तः सहसा पदैस्त्रिभिरघं ज्योतिर्मयी वाङ्मयी ।।

या मात्रा त्रपुकीलिता तनुलसत्तन्तस्थितिस्पर्धिनी,
वागूबीजे प्रथमे स्थिताहृदि सदा तां मन्महे ते वयम् ।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननी व्यापारबद्धोदयमा,
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी गर्भेऽर्भकत्वं नराः ।।

दृष्ट्वा संभ्रमकारि वस्तु सहसा ऐ ऐ इति व्याहृतम्,
येनाकूतवशादपीह वरदे बिन्दु विनाप्यक्षरम् ।
तस्यापि ध्रुवमेव देवि तरसा का ते तवानुग्रहे,
वाचस्सूक्तिसुधारसद्रवमुचो निर्यान्ति वक्त्रांबुजात् ।।

यन्नित्ये तव कामराजमपरं मंत्राक्षरं निष्कलम्,
तत्सारस्वतमित्यवैति विरल: कश्चिद्बुधश्चेद्भुवि।
आख्यानं प्रतिपर्व सत्यतपसो यत्कीर्थयन्तो द्विजाः,
प्रारम्भे प्रणवास्पदप्रणयितां नीत्वोच्चरन्तिम् स्फुटम् ।।

यत्सदयो वचसां प्रवृत्तिकरणे दृष्टप्रभावं बुधै-
स्तार्तीयं तदहं नमामि मनसा त्वद्बीज मिन्दुप्रभम् ।
अस्त्यारोपि सरस्वतीमनुगतो जडयांबुविच्छित्तये,
गो शब्दो गिरिवर्तते स नियतं योगं विना सिद्धिदः ।।

एकैकं तव देवि बीजमनघ सव्यंजनाव्यंजनम्,
कूटस्थं यदि वा पृथक्क्रमगतं यद्वा स्थितं व्यत्क्रमात् ।
यं यं काममपेक्ष्य येन विधिन केनापि वा चिन्तितम्,
जप्तं वा सरलीकरोति तरसा तं तं समस्तं नृणाम् ।।

वामे पुस्तकधारिणीमभयदां साक्षस्त्रजं दक्षिणे,
भक्तेभ्यो वरदानपेशलकरां कर्पूरकुन्दोज्ज्वलाम् ।
उज्जृंभाबुजपत्रकान्ति निवहस्निग्धप्रभालोकिनीम्,
ये त्वामम्ब न शीलयन्ति मनसा तेषां कवित्वं कुतः ।।

ये त्वां पाण्डर पुण्डरीकपटलस्त्रग्भाभिरामप्रभाम्,
सिंचन्तीममृतद्रवैखि शिवे ध्यायन्ति मूर्ध्नि स्थिताम् ।
अश्रान्तं विकटस्फुटाक्षरपदं निर्याति वक्त्रोदरा,
त्तेषां भारति भारतीसुरसरित्कल्लोललोलोर्मिवत् ।।

ये सिन्दूरपरागपुंजपिहितां त्वत्तेजसा दयामिमा,
मुर्वी चापि विलीन यावकरस प्रस्तारमग्लामिव।
ध्यायन्ति क्षणमप्यनन्यमनसस्तेषामनंगज्वर,
क्लान्तास्त्रस्त कुरंगशावकदृशो वश्याः भवन्ति स्त्रियः ।।

चंचत्कांचनकुण्डलागदधरामाबद्धकांचीस्त्रजम्,
ये त्वां चेतसि तद्गते क्षणमपि ध्यायन्ति कृत्वा स्त्रियम् ।
तेषां वेश्मसु विभ्रभादहरहस्फारीभवन्त्यश्चिरम्,
मादचत्कुंजर कर्णतालतरला स्थैर्यं भजन्ति स्त्रियः ।।

आर्भटया शशिखण्डमण्डनजटजूटां नृमुण्डस्रजं,
बंधूकप्रसवारुणांबरधरां · प्रेतासनाध्यासिनीम् ।
त्वां ध्यायन्ति चतुर्भुजां त्रिनयनामापीनतुंगस्तनीं,
मध्ये निम्नवलित्रयांकिततनुं त्वद्रूपसंवित्तये ।।

जानोप्यल्पपरिच्छदे क्षितिभुजां सामान्यमात्रेकुले,
निःशेषावनि चक्रवर्तिपदवीं लब्ध्वा प्रतापोन्नतः ।
यद्विदयाधरवृन्दवन्दितपदः श्रीवत्सराजोऽभवत्,
देवि त्वच्चरणाम्बुजप्रणतिजस्सोयं प्रसादोदयः ।।

चण्डि त्वच्चरणाम्बुजार्चनविधौ बिल्वीदलोल्लुंठनात,
त्रुय्यत्कण्टक कोटिभिः परिचयं येषां न जग्मुः कराः ।
ते दण्डांकुश चक्र चापकुलिशश्रीवत्समत्स्यांकितैः,
जायन्ते पृथिवीभुजः कथमिवांभोजप्रभैः पाणिभिः ।।

विप्राः क्षोणिभुजो विशस्तदितरे, क्षीराज्यमध्वासवैः,
त्वां देवि त्रिपुरे परापरमयीं सन्तर्प्य पूजाविधौ ।
यां यां प्रार्थयते मनः स्थिरतया तेषां त एते ध्रुवम्,
तां तां सिद्धिमवाप्नुवन्ति तरसा विघ्नैरविघ्नीकृताः ।।

शब्दानां जननि त्वमत्र भुवने वाग्वादिनीत्युच्यसे,
त्वत्तः केशव वासवप्रभृतयोऽप्याविर्भवन्ति ध्रुवम् ।
लीयन्ते खलु यत्र कल्पविरमे ब्रह्मादयस्तेप्यमी,
सः त्वं काचिदचिन्त्यरूप गरिमा शक्तिः परा गीयसे ।।

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं त्रिपुटी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः ।
यत्किंचिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकम्
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः ।।

लक्ष्मीं राजकुले जयां रणमुखे क्षेमंकरीमध्वनि,
क्रव्यादद्विपसर्पभाजि शबरीं कान्तार दुर्गे गिरौ ।
भूत प्रेतपिशाचजंभकमये स्मृत्वा महा भैरवीं,
व्यामोहे त्रिपुरां तरन्ति विपदस्तारां च तोयप्लवे ।।

माया कुण्डलिनी क्रिया मधुमयी काली कलामालिनी,
मातंगी विजया जया भगवती गौरी शिवा शांभवी।
शक्तिश्शंकरवल्लभा त्रिनयना वाग्वादिनी भैरवी,
ह्रींकारी त्रिपुरे परापरमयी माताकुमारीत्यसि॥

आई पल्लवितैः परस्पर युतैः द्वित्रिक्रमादयक्षरैः,
कादयः क्षान्तगतैः स्वरादिभिरथ क्षान्तैश्च तैस्सस्वरैः।
नामानि त्रिपुरे भवन्ति खलुयान्यत्यन्तगुह्यानि ते,
तेभ्यो भैरवपत्निर्विशतिसहस्रेभ्यो परेभ्यो नमः॥

बोद्धव्या निपुणं पदैः स्तुतिरियं कृत्वा मनस्तग्दतं,
भारत्या त्रिपुरेत्यनन्यमनसो यत्राद्य पद्यैः स्फुटम्।
एक द्वित्रिपदक्रमेण कथितस्त्वत्पादसंख्याक्षरैः,
मंत्रोद्धारनिधिर्विशेषसहित स्सत्संप्रदायान्वितः॥

सावदयं निरवदयमस्तु यदि वा किं वानया चिन्तया,
नूनं स्तोत्रमिदं पठिष्यति जनो यस्यास्ति भक्तिस्त्वयि।
संचिन्त्यापि लघुत्वमात्मनिदृढं संजायमानं हठात्,
त्वद्भक्तया मुखरीकृतेन सुचिरं यस्मान्मयापि ध्रुवम्॥

घटस्तवः

आनन्दमन्थर पुरन्दरमुक्त माल्यम्,
मोलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु ते विजयाय मंजु
मंजीर शिंजितमनोहरमम्बिकायाः॥

देवि त्र्यंबक पत्नि पार्वति सति त्रैलोक्यमातः शिवे,
शर्वाणि त्रिपुरे मृडानि वरदे रुद्राणि कात्यायनि॥
भीमे भैरवि चण्डि शर्वरि कले कालक्षये शूलिनि,
त्वत्पाद प्रणताननन्यमनसः पर्याकुलान्पाहि नः॥

देवि त्वां सकृदेव यः प्रणमति क्षोणीभृतस्तं नम-
न्त्याजन्मस्फुरदंघ्रिपीठविलुठन्कोटीरकोटिच्छटाः॥

यस्त्वामर्चति सोर्च्यते सुरगणैः यः स्तौति सः स्तूयते,
यस्त्वां ध्यायति तं स्मरार्तिविधुराः ध्यायन्ति वामभ्रुवः ।।

उन्मत्ता इव सग्रहा इव विषव्यासक्तमूर्च्छा इव,
प्राप्तप्रौढ़मदा इवार्तिविरह ग्रस्ता इवार्ता इव।
ये ध्यायान्ति हि शैलराजतनयां धन्यास्त एवाग्रतः
त्यक्तोपाधि विवृद्धरागमनसो ध्यायान्ति तान्सुभ्रुवः ।।

ध्यायन्ति ये क्षणमपि त्रिपुरे हृदि त्वाम्,
लावण्ययौवनधनैरपि विप्रयुक्ताः ।
ते विस्फुरन्ति ललितायतलोचनानाम्,
चित्तैकभित्तिलिखित प्रतिमाः पुमांसः ।।

एतं किन्नु दृशा पिबाम्युत विशाम्यस्यांगमंगैर्निजैः,
किं वामुं निगराम्यनेन सहसा किं वैकतामाश्रये ।
तस्येत्थं विवशो विकल्प ललिताकूतेन योषिज्जनः,
किं तदयन्न करोति देवि हृदये यस्य त्वमावर्तसे ।।

विश्वव्यापिनि यद्वदीश्वर इति स्थाणावनन्याश्रयः,
शब्दः शक्तिरिति त्रिलोकजननि त्वय्येव तथ्यस्थितिः ।
इत्थं सत्यपि शक्नुवन्ति यदिमाः क्षुद्रा रुजो बाधितुम्,
त्वद्भक्तानपि न क्षिणोपि च रूषा तद्देवि चित्रं महत् ।।

इन्दोर्यध्यगतां मृगांकसदृशां छायां मनोहारिणीम्,
पाण्डूत्फुल्ल सरोरुहासन गतां स्निग्धप्रदीपच्छविम् ।
वर्षन्तीममृतं भवानि भवतीं ध्यायन्ति ये देहिन,
स्ते निर्भुक्तरूजो भवन्ति विपदः प्रोज्झन्ति तान्दूरतः ।।

पूर्णेन्दोः शकलैरिवाति बहलैः पीयूषपूरैरिव,
क्षीराब्धेर्लहरीभरैरिव सुधापंकस्य पिण्डैरिव ।
प्रालेयैरिव निर्मितं तव वपुर्ध्यायन्ति ये श्रद्धया,
चिन्तान्त निहितातितापविपदस्ते सम्पदं बिभ्रति ।।

ये संस्मरन्ति तरलां सहसोल्लसन्तीम्,
त्वां ग्रन्थिपंचकमिदं तरुणार्क शोणम् ।

रागार्णवे वहलरागिणि मज्जयन्तीं,
कृत्स्नं जगद्दधति चेतसि तान्मृगाक्ष्यः ।।
लाक्षारस स्नपित पंकजतन्तुतन्वी,
मन्तः स्मरत्यनुदिनं भवतीं भवानि ।
यस्तं स्मरप्रतिममप्रितमस्वरूपा,
नेत्रोन्पर्लै भृंगहशो भृशमर्चयन्ति ।।

स्तुमस्त्वां वाचमव्यक्तां हिमकुन्देन्दुरोचिषम् ।
कदम्बमालां बिभ्राणामापादतललम्बिनीम् ।।

मूर्ध्नीन्दोः सित पंकजासनगतां प्रालेयपाण्डुत्विषं,
वर्षन्तीममृतं सरोरूहभुवो वक्त्रेपि रंध्रोपि च ।
अच्छिन्ना च मनोहरा च ललिता चातिप्रसन्नापि च,
त्वामेवं स्मरतः स्मरारिदयित्वे वाक्सर्वतो वल्गति ।।

ददातीष्टान्भोगान्क्षपयति रिपून् हन्ति विपदो
दहत्याधीन् व्याधीन् शमयति सुखानि प्रतनुते ।
दृटादन्तर्दुःखं दलयति पिनष्टीष्ट विरहम्,
सकृद्ध्याता देवी किमिव निखदयं न कुरुते ।
यस्त्वां ध्यायति वेत्ति विन्दति जपत्यालोकते चिन्तय-
त्यन्वेति प्रतिपदयते कलयति स्तौत्याश्रत्यर्चति ।
यस्तु त्र्यंबकवल्लभे तव गुणानाकर्णयत्यादरात्,
तस्य श्रीर्नगृहादपैति विजयस्तस्याग्रतो धावति ।।

किं किं दुःखं दनुजदलिनि क्षीयते न स्मृतायां,
का का कीर्तिः कुलकमलिनि ख्याप्यते न स्तुतायाम् ।
का का सिद्धिः सुखरनुते प्राप्यते नार्चितायाम्
कं कं योगं त्वयि न चिनुते चित्तमालम्बितायाम् ।।

ये देवि दुर्धरकृतान्तमुखान्तरस्था,
ये कालि कालघनपाशनितान्तबद्धाः ।
ये चण्डि चण्ड गुरु कल्मषसिंधुमग्ना
स्तान्पासि मोचयसि तारयसि स्मृतैव ।।

लक्ष्मी वशीकरणचूर्ण सहोदराणि,
त्वत्पादपंकजरजांसि चिरं जयन्ति।
यानि प्रणाममिलितानि नृणां ललाटे,
लुम्पन्ति दैवलिखितानि दुरक्षराणि ।।

रे मूढाः किमयम् वृथैव तपसा कायः परिक्लिश्यते,
यज्ञैर्वा बहुदक्षिणैः किमितरे रिक्तीक्रियन्ते गृहाः।
भक्तिश्चेदविनाशिनी भगवती पादद्वयी सेव्यता
मुन्निद्राम्बुरुहातपत्रसुभगा लक्ष्मीः पुरोधावति ।।

याचे न कंचन न कंचन वंचयामि,
सेवे न कंचन निरस्तसमस्तदैन्यः ।
श्लक्ष्णं वसे मधुरमद्भि भजे वरस्त्री
देवी हृदि स्फुरति मे कुल कामधेनुः ।।

नमामि यामिनीनाथ लेखालंकृत कुन्तलाम् ।
भवानीं भवसन्ताप निर्वाण सुधानदीम् ।।

ये तीनों स्तोत्र देवी के हैं। इनका पाठ विपत्तियों से मुक्त होने, स्त्रियों का आकर्षण करने, विद्या प्राप्त करने, सुख-शान्ति आदि के निमित्त किया जाता है। स्तुतियां अथवा स्तोत्र शंकराचार्य ने बहुत उत्तम लिखे हैं पर ये स्तुतियां उनसे भी अधिक प्रांजल लगीं इसलिए मां को प्रसन्न करने के लिए इनका नित्यपाठ करें तो जीवन में उन्नति होगी। पहली त्रिपुर सुन्दरी की महिम्नः स्तुति है—रचयिता है दुर्वासा, दूसरी भी त्रिपुर सुन्दरी की है स्तोता है—कालिदास, तीसरी घटसरस्वती की स्तुति है—इसके भी रचयिता कवि कालिदास हैं।

।। इति शुभम् ।।

A.H.W. SADHNA SERIES
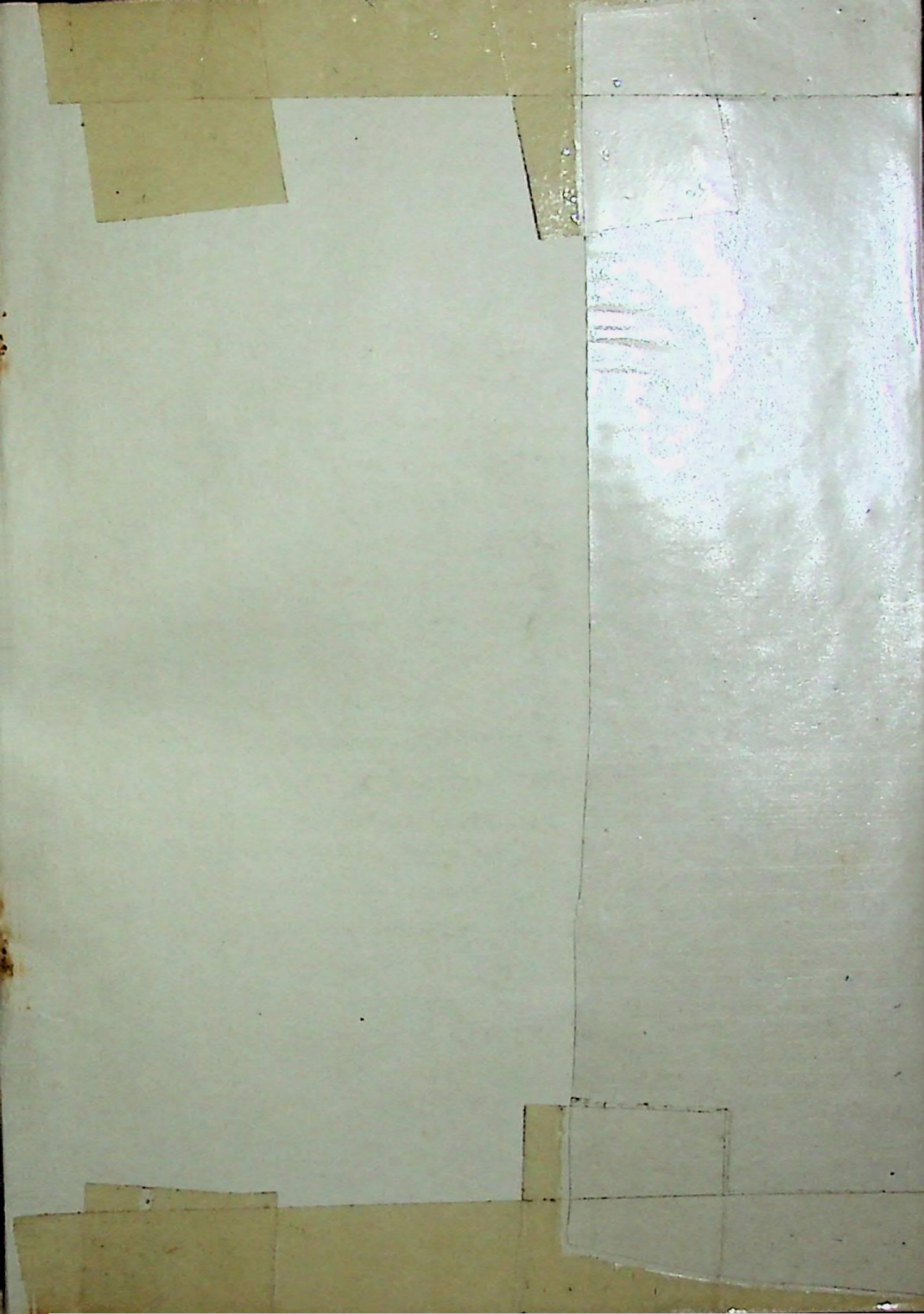
मन्त्र ईश्वरीय शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य की गुप्त शक्तियों का उदय होता है और जिसके नियमित स्मरण एवं चिन्तन करने से मनुष्य की सभी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती है।

यह केवल मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वैषण और वशीकरण ही नही, बल्कि निर्वाण का माध्यम भी है।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने, आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही मन्त्र की व्याख्या और सत्य की स्थापना की है जिसके कारण पुस्तक की उपादेयता बहुत बढ गई है।